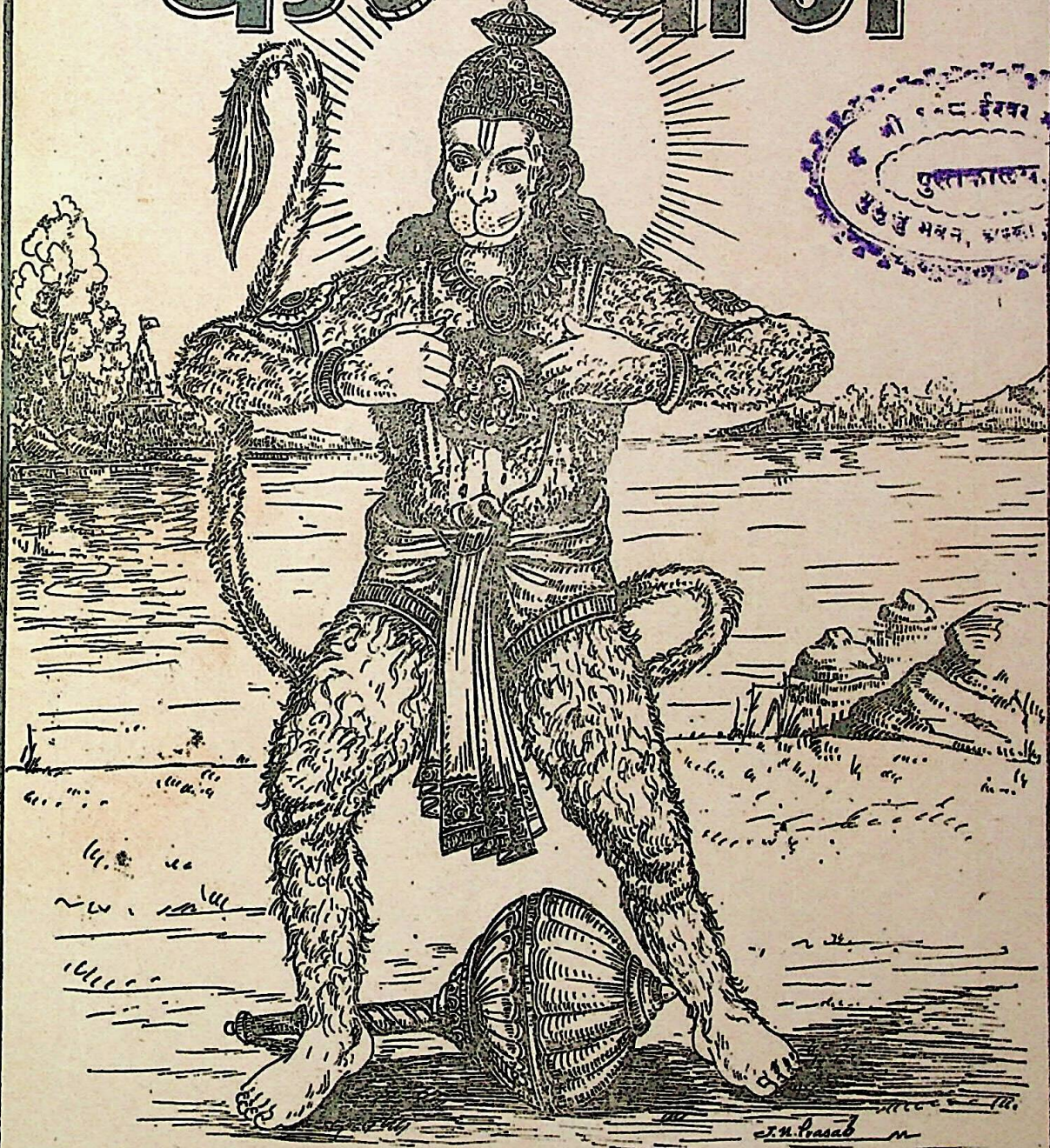
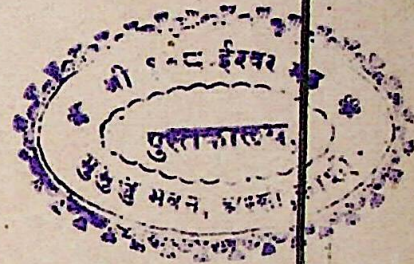


कल्याण



हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण, १, ६५, ०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, अगस्त १९७१

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-महाभाव-रसराम-वन्दना [कविता] (श्रीराधामाधव-रस-सुधा)	... १०७३	१४-‘जौं हम भले-बुरे तौ तेरे ।’ [कविता] (श्रीसूरदासजी)	... १०९७
२-कल्याण	... १०७४	१५-अविद्या (माया) का स्वरूप (पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र, काव्य-व्याकरण- सांख्य-स्मृति-तीर्थ)	... १०९८
३-ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश (पुराने सत्सङ्गसे)	... १०७५	१६-सर्प-दंशके उपचार (पं० श्रीगोपालजी दिवेदी, वैद्य)	... ११००
४-भक्तकी अभिलाषा [कविता] (श्री- मीराबाई)	... १०७७	१७-जब लोकमान्य तिलकने मांडले जेलको नाल्ला-विश्वविद्यालयमें बदल दिया था (डा० श्रीसीतारामजी सहगल, शास्त्री, एम०, ए० एम० ओ० एल०, पी-एच० डी०)	... ११०३
५-परमार्थकी पगडंडियाँ (नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय श्रीमाईजी (श्रीहनुमान- प्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन)	... १०७८	१८-परमार्थ-पत्रावली (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने पत्र)	... ११०६
६-नाटकका राजा [गद्य-काव्य] (श्रीमोती- लालजी सुराना)	... १०८१	१९-श्रीराधा-प्राकट्य-महोत्सव	... ११०८
७-ईश्वर आपके पास (अनन्तश्री स्वामी - श्रीअलण्डानन्दजी सरस्वती)	... १०८२	२०-उपपुराणोंकी समस्या और श्रीविष्णुधर्मो- त्तरपुराण (पं० श्रीजानकीनाथजीशर्मा)	... १११७
८-गीताका भक्तियोग-५ (पूज्य स्वामीजी श्रीराममुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या)	... १०८५	२१-वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता (डा० श्रीनीरजा- कान्तजी चौधुरी देवशर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०)	... १११९
९-प्रभु-मिलनका सुख [कविता] (संत श्रीमानपुरीजी)	... १०८९	२२-अब्दुरहीम खानखानाका भक्ति-भाव और हिंदुत्व-प्रेम (डॉ० श्रीबालकृष्णजी ‘अकिञ्चन’, एम० ए०, पी-एच० डी०)	... ११२२
१०-आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ	... १०९०	२३-जगत्की असरता [कविता] (भारतेन्दु हरिचन्द्रजी)	... ११२४
११-हरि-विमुखताका परिणाम [कविता] (संत श्रीरैदासजी)	... १०९२	२४-सत्सङ्ग [कहानी] (श्रीलक्ष्मीनारायणजीशर्मा)	... ११२५
१२-जन्म कर्म च मे दिव्यम् (संतप्रवर परमहंस पं० श्रीरामचन्द्रजी शास्त्री डोंगरे महाराज; प्रेषिका-श्रीमती राधारानी चतुर्वेदी)	... १०९३	२५-संतकी निर्भयता (श्रीदियामनोहरजी व्यास, एम० एस०-सी०)	... ११२७
१३-मांसाहारसे हानि (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)	... १०९६	२६-पढ़ो, समझो और करो	... ११२८

चित्र-सूची

१-हनुमान्जीके हृदयमें श्रीसीतारामकी झाँकी	(रेखाचित्र)	... मुखपृष्ठ
२-महाभाव-रसराम	(तिरंगा)	... १०७३

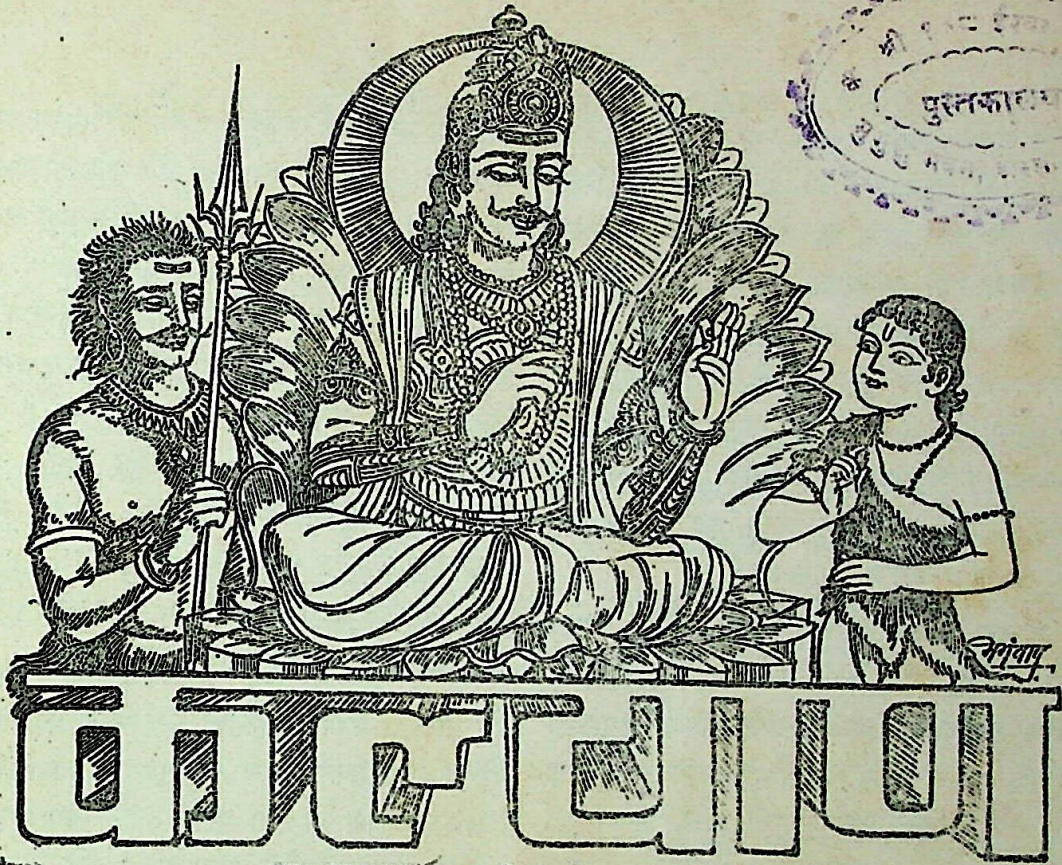
वार्षिक मूल्य भारतमें १०.०० } जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ { साधारण प्रति भारतमें ६० पैसे
विदेशमें १६.०० (१८ शिलिंग) } विदेशमें ६० १.०० (१५ पैसे)

आदि संपादक—नित्यलोलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । संपादक—चिम्बनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री,
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालन, गीताप्रेस, गोरखपुर





महाभाव-रसराज



अधश्चोर्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे । इत्येवं संसरन् प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत् ॥

(अग्निपुराण)

वर्ष ४५ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, अगस्त १९७१ { संख्या ८
पूर्ण संख्या ५३७

महाभाव-रसराज-वन्दना

दोउ चकोर, दोउ चंद्रमा, दोउ अलि, पंकज दोउ ।
दोउ चातक, दोउ मेघ प्रिय, दोउ मछरी, जल दोउ ॥
आसय-आलंवन दोऊ, विषयालंवन दोउ ।
प्रेमी-प्रेमास्पद दोऊ, तत्सुख-सुखिया दोउ ॥
लीला-आस्वादन-निरत महाभाव-रसराज ।
वितरत रस दोउ दुहुन कौं, रचि विचित्र सुठि साज ॥
सहित विरोधी धर्म-गुन जुगपत नित्य अनंत ।
वचनातीत अचिंत्य अति, सुषमामय श्रीमंत ॥
श्रीराधा-माधव-चरन बंधौ बारंबार ।
एक तत्त्व दो तनु धरें, नित रस पारावार ॥

—(श्रीराधामाधव-रस-सुखा)

कल्याण

साधनाका स्वरूप निश्चय करनेके पूर्व साध्यका निरूपण और साध्यका निश्चय करना कर्तव्य है। हमें जीवनमें क्या प्राप्त करना है, कहाँ जाना है—जबतक यह निश्चय नहीं हो जाता, तबतक उसकी प्राप्तिका उपाय सोचनेका प्रश्न ही नहीं बनता। अतएव जीवनमें सर्वप्रथम यह निश्चय कर लेना है कि 'हमें भगवान्को प्राप्त करना है—भगवान्के धाम जाना है—भगवान्के श्रीचरणोंमें नित्य स्थान प्राप्त करना है—भगवान्के परमधामको प्राप्त करना है।' नाम कुछ भी रख लिया जाय, तत्त्वतः प्राप्तव्य वस्तु एक ही है।

साध्यका निश्चय होनेके पश्चात् मार्गका निश्चय किया जाता है। सबके लिये सब मार्ग उपयोगी नहीं होते। कारण स्पष्ट है कि प्रत्येककी रुचि एक-सी नहीं है, क्षमता एक-सी नहीं है, अधिकार एक-सा नहीं है। इसलिये अपनी-अपनी रुचि, क्षमता एवं अधिकारके अनुसार साधनाका मार्ग निश्चय करना चाहिये।

जब कहाँ जाना होता है तो उसके लिये राह-खर्च चाहिये, रास्तेमें टिकनेका स्थान चाहिये, रास्तेमें खान-पानकी व्यवस्था होनी चाहिये—आदि-आदि। इसी प्रकार पारमार्थिक साधनामें भी कुछ ऐसी चीजें हैं, जो सबको चाहिये—फिर चाहे वे निष्काम कर्मयोगका साधन करनेवाले हों, चाहे भक्तियोगका, चाहे अष्टाङ्गयोगका, चाहे ज्ञानयोगका, चाहे भगवत्प्रेमका। मार्ग कोई भी हो, मार्गमें सम्बल चाहिये, कुछ सहारा चाहिये, कुछ अवलम्ब चाहिये, कुछ तैयारी चाहिये। इसी तैयारीका योगदर्शनके अनुसार नाम है—'धर्म'। देखनेमें यह बहुत छोटी बात प्रतीत होती है, पर है यह बहुत बड़ी। जैसे बिना नींवके कोई मकान खड़ा नहीं हो सकता,

उसी प्रकार बिना मजबूत आधारके साधन नहीं चल सकता। इसी 'आधार' का नाम भगवान्ने गीतामें रखा है—दैवी सम्पत्ति; भक्तिशास्त्रवालों ने जहाँ रसका वर्णन किया है, वहाँ इसको 'शान्तरस'की संज्ञा दी है, प्रेमकी साधना करनेवालोंने इसे 'वैधीभक्ति—साधनभक्ति' कहा है तथा ज्ञानमार्गियोंने 'षट्सम्पत्ति' कहकर इसका निरूपण किया है। इन सभीमें नामका भेद है तथा कुछ चीजोंकी संख्यामें भेद है, अर्थात् किसीमें छः, किसीमें दस तथा किसीमें इससे अधिक चीजोंके नाम गिनाये गये हैं। पर सबका भाव एक ही है कि मनके द्वारा, इन्द्रियोंके द्वारा, शरीरके द्वारा, बुरे कर्मोंका सर्वथा त्याग तथा अच्छे कर्मोंका ग्रहण करना चाहिये।

अच्छे-बुरे कर्मोंकी सूचीका कोई अन्त नहीं है। बुरे कर्मोंके परित्यागके सम्बन्धमें सूत्ररूपमें इतना समझ लेना चाहिये कि जो बात दूसरा हमारे साथ करे तो हमें बुरी लगती है, वैसी बात हम दूसरोंके साथ न करें। अच्छाईके ग्रहणमें हम जिस बातको दूसरोंसे अपने लिये चाहते हैं, वह हम दूसरोंके साथ करें। अर्थात् बुरा वह है, जिसे हम अपने लिये नहीं चाहते। अच्छा वह है, जिसे हम अपने लिये चाहते हैं। इस सिद्धान्तपर परखकर कर्तव्यका निर्णय करना चाहिये कि हमें क्या करना है, क्या नहीं करना है। संक्षेपमें, जिस किसी कार्यसे अपना और दूसरोंका परिणाममें अमङ्गल होता है, अहित होता है, वह बुरा कर्म है, पाप है और जिस कामसे अपना और दूसरोंका परिणाममें हित होता है, कल्याण होता है, वह अच्छा कार्य—पुण्य है। इस कसौटीपर कसकर हमें अपने मनके द्वारा, इन्द्रियोंके द्वारा, शरीरके द्वारा कर्म करने चाहिये। वस यही साधना है।

ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[पुराने सत्सङ्गसे]

भगवत्प्राप्तिका सुगम मार्ग—भक्ति

इस घोर कलिकालमें भगवान्को प्राप्त करनेके लिये भक्तिका मार्ग ही सुगम मार्ग है। भगवान्की भक्ति इस प्रकार करनी चाहिये जैसे उत्तम पतिव्रता स्त्री एकमात्र अपने पतिसे ही प्रेम करती है। जो भक्त केवल भगवान्से ही प्रेम करता है, उसकी भक्तिको 'व्यभिचारिणी भक्ति' कहते हैं। जो स्त्री अपने पतिको छोड़कर अन्य पुरुषसे प्रेम करती है, उसको 'व्यभिचारिणी' कहते हैं। उसी प्रकार जो मनुष्य भगवान्से प्रेम न करके विषय-भोगोंसे प्रेम करते हैं, उनको 'व्यभिचारी भक्त' कहा जाता है। जो व्यभिचारी भक्त होता है, उसको शीघ्र ही भगवान्की प्राप्ति होकर उसका कल्याण हो जाता है।

परमात्माके समान गुणवान् कोई भी नहीं है। उनकी सुन्दरताके सामने करोड़ों कामदेवोंकी सुन्दरता भी नगण्य है और उनकी सामर्थ्य ऐसी है कि वे असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं। साथ ही वे क्षमा, दया, संतोष, शान्ति आदि गुणोंके सागर हैं। जो व्यक्ति ऐसे परमात्माको प्राप्त करना चाहे, वह उन्हें प्राप्त कर सकता है। उसके इस प्रयत्नमें महापुरुषोंसे बड़ी सहायता प्राप्त हो सकती है। महापुरुष भगवान्की भक्तिका प्रभाव, उनके गुण एवं सुन्दरताको बतलाकर जीवोंको भगवान्के प्रति आकृष्ट करते हैं। पीछे महापुरुषोंके व्रताये साधनोंको अपनाकर जीव भगवान्के साथ अपना सम्बन्ध बना लेता है।

भगवान्की भक्ति करनेसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश होता है और सद्गुण-सदाचारकी प्राप्ति होती है तथा अन्तमें भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। भक्तिका आधार

नियमोंका पालन है—जैसे (१) शौच अर्थात् बाहर-भीतरकी शुद्धि, (२) संतोष—जो कुछ अनुकूल-प्रतिकूल प्राप्त हो जाय, उसे भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर स्वीकार करना, (३) तप—धर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना, (४) स्वाध्याय—ईश्वर-सम्बन्धी सद्ग्रन्थोंका पठन-पाठन करना और (५) ईश्वर-प्रणिधान—भगवान्के शरण हो जाना।

इन पाँच नियमोंका आश्रय लिया जाय तो निश्चित-रूपसे भगवान्की प्राप्तिके मार्गमें बढ़ा जा सकता है।

आत्माके स्वरूपको पहचानकर कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डालिये !

'कठोपनिषद्'में यमराजने नचिकेताको समझाते हुए कहा है—'यह शरीर एक प्रकारका रथ है, बुद्धि इस शरीररूपी रथका सारथि है, मन लगाम है और दस इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं।' रथका सारथि यदि सुयोग्य होता है तो वह घोड़ोंकी लगामको ठीकसे खींचे रखकर रथको सड़कपर बढ़ाता चलता है और गन्तव्य स्थानपर पहुँचा देता है। यही बात शरीररूपी रथके लिये है। यदि मनुष्यकी बुद्धि ठीक-ठिकानेसे काम करती है तो वह मन-इन्द्रियोंको नियन्त्रित रखते हुए परमात्माकी प्राप्तिरूप लक्ष्यपर पहुँचा देती है। सड़कके किनारे लगी हरी-हरी घासको देखकर घोड़े उधर भागते हैं, इसी प्रकार सुन्दर एवं आकर्षणयुक्त संसारके विषय-भोग इन्द्रियोंको अपनी ओर खींचते हैं। अतएव आवश्यकता है कि बुद्धिके द्वारा मनका नियन्त्रण होता रहे। मनके नियन्त्रणके साथ इन्द्रियोंका नियन्त्रण स्वाभाविक हो जायगा।

उपनिषद्की इस बातको प्रकारान्तरसे भगवान् ने गीतामें भी कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

(३ । ४२)

अर्थात् 'स्थूल-शरीरसे इन्द्रियाँ श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म हैं; इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे पर बुद्धि है और बुद्धिसे भी अत्यन्त पर आत्मा है।' इसलिये भगवान् ने कहा कि पहले इन्द्रियोंको वशमें करो—

‘तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य ।’ (३ । ४१)

इन्द्रियोंके वशमें होनेसे मन वशमें आने लगेगा । जब घोड़े उदण्ड नहीं होते, तब लगाम खींचनेकी आवश्यकता ही नहीं होती । फिर बुद्धि मनसे श्रेष्ठ एवं बलवान् है । बुद्धिका मनपर नियन्त्रण रहेगा तो मन कुछ भी नहीं कर सकेगा । इसीसे भगवान् ने कहा है कि ‘बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके दूर्जय कामरूप शत्रुको मार डालो ।’

.....संस्तभ्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

(३ । ४३)

—मनको वशमें करनेकी शक्ति बुद्धिको आत्मासे प्राप्त होती है । आत्मामें अनन्त बल है । बुद्धि उसीके बलको पाकर बलवान् और क्रियाशील होती है । अतएव आवश्यकता केवल इस बातकी है कि हम यह जान लें कि ‘बुद्धिसे भी सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ हमारी आत्मा है’—

‘एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा ।’

भगवान् की अनुभूति न होनेमें तीन हेतु—

अज्ञान, अश्रद्धा एवं संशय

विजलीके तारोंमें विजलीकी शक्ति प्रवाहित होती रहती है, पर सूक्ष्मतमरूपमें होनेसे वह आँखोंसे दिखलायी

नहीं पड़ती । विजलीके तारोंके स्पर्शसे विजलीके होनेका अनुभव होता है, पर सूखे काठपर खड़े रहकर यदि विजलीके तारोंसे कोई छू जाय तो उसे विजलीकी शक्तिका अनुभव नहीं होता । इसी प्रकार भगवान् की शक्तिसे जगत् के सब कार्य संचालित हो रहे हैं, पर सब कार्योंको देखते—अनुभव करते हुए भी उनमें भगवान् की शक्तिके दर्शन हम नहीं कर पाते । इसका हेतु है, हमलोग अज्ञान, अश्रद्धा एवं संशयरूपी सूखे काठपर खड़े होकर जगत् के कार्योंको देख रहे हैं । भगवान् ने गीतामें कहा है—

‘अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति ।’

(४ । ४०)

‘विवेकहीन, श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है ।’ यहाँपर तीन तरहके काठ मौजूद हैं—एक, समझकी कमी, दूसरा, श्रद्धाकी कमी और तीसरा, प्रत्येक विषयमें संदेहका भाव । इन तीन हेतुओंके रहते हम भावतत्त्वको नहीं समझ पाते । यदि इन हेतुओंका निराकरण हो जाय तो भगवान् के होनेका अनुभव, उनकी शक्तिका प्रभाव प्रत्यक्ष हो जाय । भगवान् तो सर्वत्र विद्यमान हैं ही और जगत् की प्रत्येक शक्तियुक्त क्रिया भगवान् के तेजके अंशसे ही सम्पन्न होती है—(गीता १० । ४१) ।

अज्ञान एवं अश्रद्धा पारमार्थिक साधनामें बाधक हैं, पर संशय उनसे भी अधिक हानिकारक है । भगवान् ने कहा है कि ‘संशययुक्त पुरुषके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है’—

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

(४ । ४०)

अब प्रश्न होता है कि संशयरूप महाशत्रुको कैसे जीता जाय । इसका उपाय भी भगवान् ने बता दिया है—‘ज्ञानसंयुक्तसंशयम्’ (गीता ४ । ४१) अर्थात्

विवेकद्वारा समस्त संशयोका नाश हो सकता है । साधकको चाहिये कि वस्तुमात्रको भगवान्‌का स्वरूप समझे और जगत्‌की यावन्मात्र चेष्टाओंको भगवान्‌की शक्तिद्वारा संचालित मानकर उसे भगवान्‌की लीला समझे ।

सृष्टिकी सम्पूर्ण शक्ति भगवान्‌के तेजका अंशमात्र है ।

एक देहातका रहनेवाला व्यक्ति बंबई शहरमें गया । उसने देखा, रेलगाड़ी बिना धुएँके चल रही है, ट्राम-गाड़ियाँ भी वैसे ही दौड़ रही हैं, घरोंमें पंखे घूम रहे हैं, प्रकाश हो रहा है; पर यह सब कौन कर रहा है—इसका रहस्य उसे ज्ञात नहीं । उसने किसीसे पूछा—‘ये सब कार्य कैसे हो रहे हैं?’ सामनेवाले व्यक्तिने बताया—‘विजलीकी शक्तिसे ।’ उसने पुनः प्रश्न किया—‘विजली कैसी होती है, मुझे दिखलाइये?’ इस प्रश्नका उत्तर सामनेवाला व्यक्ति क्या दे ? उसने कहा—‘विजली देखनेकी चीज नहीं है’ और खंभोंके सहारे ताने हुए तौँबेके तारोंको दिखला दिया और बताया कि ‘इनमें विजली है ।’ तब उसने कहा—‘इन तौँबेके तारोंको काटकर विजली दिखलाओ ।’ जब उसका समाधान किसी भी प्रकार न हो पाया तो सामनेवाले व्यक्तिने घरमें लगे हुए विजलीके तौँबेके तारको जरा-सा छूनेको कहा—उसने डरते-डरते ज्यों-ही तारको जरा-सा स्पर्श किया कि सारे शरीरमें

विजलीका करेन्ट दौड़ गया और वह चौकन्ना हो गया । अब उसने कहा—‘मैं जान गया कि विजली ऐसी होती है ।’ अब सामनेवाले व्यक्तिने उसे समझाया—‘जिस प्रकार रेलका चलना, प्रकाशका होना, पंखोंका घूमना, दूधका गर्म होना, बर्फका जमना, मशीनोंका कार्य करना आदि सब क्रियाएँ विजलीद्वारा सम्पन्न होती हैं, विजली उन चीजोंमें व्याप्त होकर उनकी क्रियाओंका संचालन करती है, उसी प्रकार भगवान्‌ जगत्‌के यावन्मात्र पदार्थ एवं प्राणियोंमें शक्तिरूपसे व्याप्त हैं । इस शहरके सब कल-कारखानोंमें विजलीका ही तेज कार्य कर रहा है । इतना ही नहीं, दुनियाके जितने भी कल-कारखाने आदि चलते हैं, वे सब विजलीके किसी एक साधारण अंशमात्रसे ही चल रहे हैं । कारण, सृष्टिमें जितनी विजली है, वह किसी एक स्थानपर आकर केन्द्रित हो गयी हो, ऐसी बात तो नहीं है । वह तो समष्टि विजलीका एक अंशमात्र है । इसी प्रकार यह समझना चाहिये कि इस सृष्टिमें जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, वह भगवान्‌के तेजके अंशसे ही उत्पन्न है । सूर्य, चन्द्र एवं अग्निमें भी जो तेज है, शक्ति है, वह भी भगवान्‌का ही प्रभाव है ।’

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम् ॥

(गीता १० । ४१)

भक्तकी अभिलाषा

बसौ मेरे नैनन में नैदलाल ।

मोहनि मूरति, साँवरि सूरति, नैना बने बिसाल ॥

मोर-मुकुट, मकराकृत कुंडल, अरुन तिलक दियेँ भाल ।

अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजंती माल ॥

छुद्र-घंटिका कटितट सोभित, नूपुर-सध्व रसाल ।

मीराँ प्रभु संतन सुखदाई भक्त-बछल गोपाल ॥

—मीराँबाई

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलांन परम श्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत-वचन]

मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियोंसे होनेवाली प्रत्येक क्रिया भगवत्प्रीत्यर्थ ही होनी चाहिये । शुरूसे कोई क्रिया भगवत्प्रीत्यर्थ न हो तो पीछे उसे भगवान्‌के समर्पण कर देना चाहिये । इसी आशयसे श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावाद् ।

करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥

(११ । २ । ३६)

जब भगवत्प्रीति ही जीवनका परम सुख बन जाता है, तब सहज ही सारे अङ्ग—भीतरी और बाहरी—केवल भगवत्सेवामें ही लग जाते हैं और इस सेवामें इतनी रति, प्रीति या सुखोपलब्धि होती है कि फिर वह प्रेमी भगवान्‌के देनेपर भी उनकी इस सेवाको छोड़कर मुक्ति स्वीकार नहीं करता । भगवान् और भक्तका यह सम्बन्ध एक जन्मतक ही नहीं रह जाता, अनेक जन्म हो सकते हैं; पर सभी जन्मोंमें यह सम्बन्ध—भगवत्प्रीति-सम्पादनरूप सेवाका सम्बन्ध बना रहता है । इसीसे प्रह्लादने भगवान्‌से कहा था—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु ब्रजाम्यहम् ।

तेषु तेष्वक्ताचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि ॥

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।

त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥

(विष्णुपुराण १ । २० । १८-१९)

‘नाथ ! मैं जिन-जिन हजारों योनियोंमें जाऊँ, उन सभी योनियोंमें तुम्हारे प्रति मेरी अचला भक्ति बनी रहे । अविवेकी मनुष्योंकी विषयोंमें जैसी नित्य प्रीति रहती है, तुम्हारा अनुसरण करते हुए वैसी ही मेरी प्रीति, हे अच्युत ! तुममें बनी रहे । तुम्हारी प्रीति मेरे हृदयसे कभी दूर न हो ।’

जीवन-मरण, संयोग-वियोग, लाभ-हानि, सुख-दुःख—सभी प्रभुके प्रीत्यर्थ ही हों तथा सभीमें उन्हें सुखी देखकर सुखकी परम अनुभूति होती रहे ।

x

x

x

x

हृदयका जो अमूल्य धन है, वह कभी नष्ट नहीं हो सकता । वह धन है—प्रभुकी मधुर स्मृति—हृदयमें नित्य प्रभुके सांनिध्यकी अनुभूति—रोम-रोमसे उनके नित्य स्पर्शसुखानुभवका आनन्द । शरीर कहीं रहे—हमारे मनमें प्रभुका नित्यनिवास हो या हमारा मन ही प्रभुकी लोभनीय सम्पत्ति बन जाय । प्रभुके समान प्रेमी प्रभु ही हैं । वे प्रेमीको प्रेमास्पद बनाकर नित्य उसको अपने हृदयमें बसाये रहते हैं, क्षणभर भी दूर नहीं करते और स्वयं तो सदा प्रेमीके हृदयमें बसे ही रहते हैं । प्रेमीके मनको सदा अपने पास रखते हैं और अपने प्रेम-तत्त्वज्ञ मनको प्रेमीकी सम्पत्ति बना देते हैं । भगवान् रामका संदेश है—

तत्त्व प्रेम कर मम अह तोरा । जानत प्रिया एकु मनु मोरा ॥
 सो मनु रहत सदा तोहि पाहीं । जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं ॥

x

x

x

x

तुम्हारी यह चाह प्रभुके लिये बड़ी ही सुखकर एवं मधुर है कि चाहे तुम कहीं भी रहो, कैसी भी स्थितिमें रहो, प्रभुकी स्मृतिरूपी धन तुम्हारे हृदयसे कभी न निकले । रात-दिन, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सदा-सर्वदा प्रभुके मधुर-मनोहर दर्शन हृदयमें होते रहें । प्रभु तो यह चाहते ही हैं । वे कभी अपने ऐसे प्रेमीको अपने हृदयसे दूर नहीं करते । यह उनका सहज स्वभाव ही है । धन्य है इन प्रेमी और प्रेमास्पदको ।

x

x

x

x

जगत्में जगत्की दृष्टिसे केवल दुःख और मृत्यु ही हैं । भगवान्की दृष्टिसे भगवान् और भगवान्की नित्यलीला हैं । जो भगवान् तथा भगवान्की नित्यलीला देखते हैं, वे हर हालतमें सदा सुखी रहते हैं । जो जगत्के भोग-विषयोंको देखते हैं, वे रात-दिन दुःखाग्निमें जलते रहते हैं । अतएव जगत्के भोगोंसे मनको हटाकर नित्य भगवान्में लगानेमें ही बुद्धिमानी है ।

x

x

x

x

भगवान्की पवित्र स्मृति जैसे भी हो, परम मङ्गलमयी है । वह धोखेसे भी हो तो हर्ज नहीं । उनकी स्मृति सारे कलुष-कलङ्कोंको धोकर जीवनको विशुद्ध, उज्ज्वल एवं भगवान्के निजनिवासरूप बना देती है । अभागा तो संसारमें वह है, जो भगवच्चरणोंमें प्रेम न करके भोगोंमें प्रेम करता है—

सुनहु उमा ते लोग अभागी । हरि तजि होहि विषय अनुरागी ॥

जिनके भगवच्चिन्तन होता है, जिनका भगवच्चरणोंमें प्रेम है, वे जगत्में भोग-दृष्टिसे चाहे जैसे भाग्यहीन माने जाते हों, वस्तुतः वे ही सच्चे सौभाग्यशाली, सच्चे भाग्यवान् हैं । तुम भगवान्का नित्य चिन्तन करते रहो, अपनेको उनके श्रीचरणोंमें डाले रहो । फिर सारी बात आप ही सुधर जायगी । जबतक हम भगवान्के न होकर भोगोंके हैं, तभीतक सब बिगड़ी हुई है—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम् ।

तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । १६)

ब्रह्माजीने कहा—‘भगवन् ! जबतक मनुष्य तुम्हारे नहीं हो जाते, तभीतक रागद्वेषादि चोर लगे रहते हैं, तभीतक घर जेलखाना बना रहता है और तभीतक मोहकी बेड़ियाँ पैरोंमें पड़ी रहती हैं ।’

अतएव हमें चाहिये कि हम अपनेको भगवान्का बनाकर, जीवनको उनका अनुगत बनाकर, निश्चिन्त होकर उनका चिन्तन करें ।

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु ।

होहि राम कौ, नामु जपु, तुलसी तजि कुसमाजु ॥

x

x

x

x

भगवान्की कृपा तो सभीपर है; परंतु जो उनका होकर, उन्हींके प्रेममें सब-कुछकी ममता त्यागकर रहना चाहता है, वह तो उनका प्रेमास्पद बन जाता है। भगवान्ने कहा है—

अस सज्जन मम उर बस कैसैं । लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसैं ॥

जैसे धनके लोभीके मनमें धन अत्यन्त प्रियरूपसे निवास करता है, वैसे ही भगवान्में ही ममता रखनेवाला व्यक्ति भगवान्के मनमें लोभीके धनकी तरह नित्य निवास करता है। अतः उसके समान परम सौभाग्यशाली कौन होगा ?

× × × ×

भगवान्को क्षणभर भी न भूलनेकी तुम्हारी इच्छा बहुत ही श्रेष्ठ है। भगवान्की मधुर स्मृति सबसे बड़ी मूल्यवान् तथा परमप्रिय वस्तु है। 'स्मृति क्षणभरके लिये भी कहीं छूटी कि परम व्याकुलता हुई' ऐसा हो जाय तो फिर स्मृति नहीं छूटती। हमलोग भगवान्की विस्मृतिको सह लेते हैं, इसीसे स्मृति छूटती है। भगवान् सब जगह रहकर भी एक ही जगह रह सकते हैं और रहते भी हैं तथा एक ही जगह रहकर भी अनन्त जगहोंको एक जगह बना सकते हैं। अर्थात् एक ही साथ अनन्त जगह रह सकते हैं और रहते भी हैं। वे सर्वसमर्थ हैं।

× × × ×

प्रतिकूल स्थितिमें भगवान्का मङ्गलविधान माननेकी बात कही जाती है, वह भी प्रेमकी दृष्टिसे तो नीची ही बात है। प्रेमी मङ्गल-अमङ्गल नहीं जानता, वह तो केवल प्रेमास्पदके सुखको ही जानता है। उसके लिये कभी कहीं प्रतिकूलता रहती ही नहीं, सर्वत्र सर्वदा अनुकूलता ही रहती है। वह निरन्तर और नित्य प्रेमास्पद प्रभुकी मधुर स्मृतिमें ही तल्लीन रहता है, शरीरका कुछ भी हुआ करे। जैसे सच्चा ज्ञानी नाम-रूपसे सदा पृथक्-ऊपर उठा हुआ होता है, वैसे ही सच्चा प्रेमी प्रेमास्पद प्रभुके मधुर स्मरणमें नाम-रूप (शरीर और शरीरके नाम) का परित्याग कर चुकता है। इससे वह सदा सुखी रहता है। अतएव हर हालतमें ही सुखी रहना चाहिये, दुःख करना भूल है। इससे प्रभुकी सतत मधुर स्मृतिमें बाधा आती है। अपनी शारीरिक पराधीनताका ख्याल आनेसे मानस-दुःख होता है और इस प्रतिकूलतामें कभी-कभी दूसरोंको कारण मान लेनेसे उनके प्रति सद्भावनामें कमी आ सकती है। ये तीनों ही बातें अपने लिये हानिकर हैं।

× × × ×

प्रभुका विरह-ताप होना सौभाग्यकी बात है। कई प्रेमी तो प्रभुके मिलनकी अपेक्षा प्रभुके विरह-तापमें विशेष सुखका अनुभव करते हैं। प्रभुका विरह जहाँ अत्यन्त दुःखद है, वहाँ प्रभुकी मधुर स्मृतिमें नित्य सहायक होनेके कारण परम सुखरूप भी है। हमको यही मानना चाहिये और यही सत्य है कि 'प्रभुकी हमपर अनन्त कृपा है। प्रभु नित्य हमारे हैं। हमसे न्यारे वे कभी होते ही नहीं। सदा-सर्वदा, रात-दिन, जाग्रत-स्वप्न—सबमें साथ रहते हैं।' ऐसी दृढ़ मान्यता हो जानेपर यह केवल मान्यता नहीं रहती, यही वास्तविक रूपमें स्फुरित होने लगता है और प्रभुकी संनिधिका अनुभव होने लगता है। खाते, सोते, बैठते, बात करते आदि समय भी उनकी संनिधिका, उनके सामीप्यका अनुभव होने लगता है। जो विश्वास करते हैं, उन सभीको किसी-न-किसी अंशमें होता है। तुमको भी अवश्य होना चाहिये। तुम और भी दृढ़ विश्वास करो। यदि हम यह मानते हैं कि 'हम तो भगवान्को याद करते हैं, भगवान् हमको याद नहीं करते' तो यह मानना ठीक

नहीं है। भगवान् यदि कृपापूर्वक हमें याद न करें तो हम उन्हें याद कर ही नहीं सकते। अतः निरन्तर भगवान्‌को अपना मानना चाहिये और बार-बार यह विश्वास तथा अनुभव करना चाहिये कि भगवान् तथा भगवान्‌की कृपा नित्य-निरन्तर हमारे साथ है और भगवान्‌का दिव्य मधुर अनन्य प्रेम हमें प्राप्त हो रहा है।

हमारा मन बड़ा ही दुष्ट है। वह भाँति-भाँतिके बहाने बनाकर भोगोंमें रचा-पचा रहना चाहता है। प्रयत्न करते-करते भी वह चुपके-से हमारे जीवनमें भोगोंका दासत्व ला देता है। हम भगवान्को भूलकर भोगासक्त हो जाते हैं। यह बड़ी ही शोचनीय स्थिति है। अतएव हमें बड़ी सावधानीके साथ सदा-सर्वदा भोगासक्तिसे बचे रहकर पवित्र भावसे नित्यानन्दमय, सर्वमय तथा सर्वातीत भगवान्का स्मरण करते रहना चाहिये। सदा ध्यान रहना चाहिये—भगवान्के नामपर भी मनमें कहीं जगत् तो नहीं आ रहा है। यद्यपि जगत् भी भगवान्से ही भरा है, तथापि वह भगवान्को छिपाकर भोगोंके रूपमें आ धमकता है और हमारी मन-बुद्धिपर, शरीर-इन्द्रियोंपर अधिकार करके हमें भोगोंके नीच दासत्वमें लगा देता है। हमें पता नहीं रहता—हम कहाँ हैं और वैकुण्ठके नामपर नरकमें पहुँच जाते हैं। भगवान् सदा-सर्वदा वचावे।

यह सत्य है कि अच्छे-बुरे वातावरणका असर मनपर पड़ता है और यह भी सत्य है कि मनके विकारोंको, दुर्बलताओंको तथा दोषोंको दूर करने एवं भगवान्‌के प्रति दृढ़ विश्वास एवं आस्था उत्पन्न करनेके लिये सत्सङ्गकी आवश्यकता है। अतएव सत्सङ्गकी इच्छा तथा सत्सङ्ग-प्राप्तिके लिये प्रयत्न भी करना चाहिये। परन्तु यदि इतनेपर भी बाहरी सत्सङ्ग न मिले तो सत्सङ्गके लिये व्याकुल रहते हुए इसे भी भगवान्‌का मङ्गल-विधान मानना चाहिये। वे प्रभु तो अलग होते नहीं। वे स्वयं ही ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देंगे, जिससे सत्सङ्गसे बढ़कर लाभ उस विपरीत वातावरणमें ही हो जायगा। वे चाहेंगे तो सत्सङ्गका शुभ अवसर जुटा देंगे—किसी संतको भेज देंगे या स्वयं ही प्रकट अथवा अप्रकटरूपसे समस्त विकारों, दुर्बलताओं तथा दोषोंको हरकर तुम्हें भलीभाँति अपना लेंगे। अतः जरा भी निराश न होकर सदा-सर्वदा भगवान्‌की कृपापर विश्वास रखो और सदा-सर्वत्र उनकी कृपाको देखते रहो।

नाटकका राजा

नाटकका राजा
मनमें सब समझे—
यह तो नाटक है,
मैं राजा काहेका ।
थोड़ी-सी देर बाद
चञ्छंगा नंगे पैर,
जाऊँगा बाजारमें
लाऊँगा आटा-दाल ।

—मोतीलाल सुराना

ईश्वर आपके पास

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

आस्तिकता और नास्तिकता दोनोंका फल प्रत्यक्ष है। ईश्वर और चैतन्यकी सत्ता-महत्ता स्वीकार न करनेका यह प्रत्यक्ष फल है कि हम, हमारा मन और शरीर-सब कुछ एक साथ मर जाता है और सदा-सर्वदाके लिये जड़तामें विलीन हो जाता है। इसके विपरीत ईश्वर अथवा चैतन्यका देहादिसे अलग विवेक कर लेनेवाले सदा-सर्वदाके लिये इष्टमें मिल जाते हैं। आस्तिकताका यह प्रत्यक्ष फल है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिये हम यों कह सकते हैं कि आस्तिककी दृष्टिमें देहसे पूर्व भी आत्माका अस्तित्व है और पश्चात् भी। देह उत्पन्न होता है, देहमें परिवर्तन होते हैं, देह मरता है, मरनेके बाद भी बदलता रहता है; परंतु आत्मा ज्यों-का-त्यों रहता है। नास्तिक इन बातोंकी हँसी उड़ाता है और अपनी खोज पूरी किये बिना ही बिना अनुभवके यह मान बैठता है कि चैतन्य सत्ता है ही नहीं। वह जड़ सचमुच ही आग्रहजड़ है। चेतन सत्ताकी साक्षात् अनुभूतिके लिये धर्मानुष्ठानके द्वारा देहेन्द्रियोंको नियन्त्रित करना पड़ता है। इसका फल यह होता है—जैसे छिछका अलग हो गया हो और गूदा तथा गुठली शेष रह गयी हो, उसी प्रकार मर्यादोचित, शिष्टानुशिष्ट कर्म करने एवं अमर्यादित, अनुचित, अशिष्ट कर्मका परित्याग कर देनेसे आत्मा कर्ताके रूपमें देहेन्द्रियादिकोंसे पृथक् निखर आता है। मनुष्यके लिये केवल दो ही गतियाँ हैं—या तो वह अपनेको जड़ताके प्रवाहमें डाल दे अथवा नियन्त्रण और संयम करके अपनेको चेतनकी ओर उन्मुख करे। चेतनको जानना-मानना ही धार्मिकताका प्रारम्भ है। सम्पूर्ण विश्वमें ऐसा कोई धार्मिक सम्प्रदाय नहीं है—भारतीय, अभारतीय, वैदिक या अवैदिक, जो किसी-न-किसी रूपमें चेतन सत्ताको स्वीकार न करता हो। चेतन सत्ताकी स्वीकृति ही धर्मकी मूलभूति है और धर्मानुष्ठान ही उसे जड़ताकी दृढ़ ग्रन्थिसे मुक्त करता है।

चेतन सत्ताकी स्वीकृति ही आस्तिकताका मूल है। अपनेको चेतन जान लेनेपर देह-इन्द्रियोंके भोग-रोगका उतना मूल्याङ्कन नहीं रहता। देहाभिमान छूटता है, प्रयासकी दिशा बदल जाती है, मन वासनाका अनुसरण छोड़कर अनुशासनमें टिकने लगता और बारंबार चेतनके पास जाकर बैठता है। ईश्वरचैतन्यके पास बैठना 'उपासना' है और आत्मचैतन्यके पास बैठना 'योग' है। चैतन्यकी उपासना और उसमें स्थिति होनेसे देश-कालके बन्धन श्लथ हो जाते हैं और व्यक्तित्व जीवनकी उस अनन्त चैतन्य सत्तासे एक हो जाता है। नास्तिकता दुःख, अज्ञान तथा मृत्युका मार्ग है। आत्मज्ञान अनन्त जीवन, स्वतन्त्र सुख और परमानन्दका मार्ग है। दोनों मार्ग खुले हैं—'येनेष्टं तेन गम्यताम्'—जिससे जाना चाहो, जाओ। केवल दृष्टि ही दी जा सकती है। किसीको घसीटकर ले जाना न तो व्यावहारिक है, न उचित। अपने मनको अपने ही अन्तर्देशके सूक्ष्मतम प्रदेशमें प्रवेश करने दीजिये। उसे चेतनसे एक होने दीजिये। फिर सब समीप है। न ईश्वर दूर है और न तो उसके मिलनेमें देर है। नारायण दूर हो नहीं सकता। नरका हृदय 'नार' है और वही जिसका घर है, उसे 'नारायण' कहते हैं। वह तो यहीं है, अभी है और यही है। हममें है, हमारी माताके गर्भमें है, पिताके वीर्यमें है, गेहूँके कणमें है, पशुभूतमें है। उसके अतिरिक्त और है ही क्या? वह विश्व, विश्वातीत, विश्वसाक्षी, विश्वनिर्माता, विश्वोपादान एवं अद्वितीय है।

प्रश्न यह उठता है कि 'वह ईश्वर हमारे अन्तरमें ही निरन्तर बैठा है तो दीखता क्यों नहीं?' आप दर्शनकी प्रक्रियापर ध्यान दें। हमारी इन्द्रियोंसे जो पदार्थ दीखते हैं, उनमें इन्द्रिय और पदार्थके बीचमें भी एक तीसरी वस्तु रहती है। उसको 'अधिदैव' कहते हैं। उदाहरणके लिये, नेत्र और रूपके बीचमें प्रकाशका होना आवश्यक है। नेत्र 'अध्यात्म' हैं, रूप 'अधिभूत' है और प्रकाश

‘अधिदैव’ है। इसी प्रकार जब साक्षी अपनी दृष्टिसे किसी वस्तुको देखता है, तब साक्षी और वस्तुके बीचमें ईश्वर होता है। जब बुद्धिसे हम औचित्य, न्याय्य अथवा धर्मका निश्चय करते हैं, तब बुद्धिको सहायता देनेवाले चैतन्य प्रकाशका नाम ही ‘वासुदेव’ होता है। जो सबकी बुद्धिके अन्तरमें रहकर उसका नियमन करता है, प्रेरणा और प्रकाश देता है, उसीको तो ‘ईश्वर’ कहते हैं। अच्छाई-बुराई, हित-अहितका ज्ञान किसके सहारे होता है? व्यष्टि एवं समष्टि बुद्धियों और उनके विषयोंको प्रकाशित करनेवाला कौन है? जिससे सब चमक रहा है, दमक रहा है, वही चैतन्य ज्ञानस्वरूप ईश्वर है।

‘यदि कोई टेलीफोन (तडित्-स्वन) पर ईश्वरसे बात करना चाहे तो किस नम्बरपर मिलये?’—एक महात्मासे किसीने प्रश्न किया। महात्माने हँसकर उत्तर दिया—‘अपने हृदयका डायल निरभिमानताके नम्बरपर घुमाओ। ईश्वर तुम्हारी अन्तरकी ध्वनि सुनेगा और उत्तर भी देगा, चाहे कितनी भी बात कर लो—‘तद्दूरे तद्वन्तिके!’ ईश्वर दूरसे दूर है, पास-से-पास है।’

ईश्वर और जीवके बीचमें कोई आवरण नहीं है। जीव और ईश्वर परस्पर घुल-मिलकर ही रहते हैं। वेदान्तियोंने मल, विक्षेप और आवरण—तीन दोष माने हैं; परंतु भक्तिसिद्धान्तमें आवरण दोष नहीं है। अंशी और अंश, सिंधु और बिन्दु, जल तथा तरङ्गके बीचमें यवनिका कहाँ है? भक्तिके आचार्योंने स्पष्ट शब्दोंमें उद्घोष किया है कि ईश्वरके प्रति प्रेमकी न्यूनता अथवा ईश्वरसे विमुखता ही उसके दर्शनमें बाधक है। नर-नारायणसे दूर जा नहीं सकता। नारायण नरसे पृथक् कभी हो नहीं सकते। नर-नारायणकी सनातन अचल एकरस जोड़ी है। नारायण नर हैं तो नर नारायण है। प्रह्लादने कहा है कि यह सारी सृष्टि और स्थयं मैं ईश्वर ही हैं—

‘सकलमिदमहं च वासुदेवः।’ (वि० पु० ३।७।३२)

आश्चर्यकी बात तो यह है कि दर्शनशास्त्रकी कक्षामें परस्पर मतभेद रखनेवाले अद्वैती शंकर, विशिष्टाद्वैती रामानुज, विशुद्धाद्वैती वल्लभ और अचिन्य द्वैताद्वैती

वल्लदेवविद्याभूषण—सभी प्रह्लादके इस वचनको अपने-अपने मतकी पुष्टिके लिये उद्धृत करते हैं और ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ श्रुतिके समान ही स्वीकार करते हैं। ऐसी अवस्थामें ईश्वरके अदर्शनका कारण क्या? श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—‘यह हमारा दुर्भाग्य है कि हमारे हृदयमें ईश्वरके प्रति अनुरागका उदय नहीं हुआ।’ यह अनुरागका अनुदय ही ईश्वरके दर्शनमें प्रतिबन्धक है।

अब प्रश्न है कि भक्ति क्या है? शाण्डिल्यके अनुसार ईश्वरमें परमानुराग ही भक्ति है। नारदके अनुसार वह परम प्रेमरूपा है, अमृतस्वरूपा भी है। अङ्गिरा-के अनुसार परमात्मा रसरूप है, इसलिये पूर्ण रसात्मिका वृत्ति ही भक्ति है। जिस किसी भी निमित्तसे प्रेमपूर्वक चित्त-वृत्तिका भगवदाकार होना ही ‘भक्ति’ है। मैंने एक महात्मासे प्रश्न किया—‘हमारे जीवनमें भक्ति कैसे प्रकट हो?’

उन्होंने कहा—‘माता जब बच्चेको पाठशाला भेजती है, तब साथमें कलेवा रखती है। आने-जानेके लिये सवारीकी और मार्गमें सुरक्षाकी व्यवस्था भी कर देती है। जबतक अपना शिशु माताके पास लौट नहीं आता, तबतक वह उसका ध्यान भी रखती है। क्या परमेश्वरने, हमारे सच्चे माता-पिताने हमें संसारमें खाली हाथ भेज दिया है? नहीं-नहीं, भक्ति तो हमारे साथ ही रख दी। यह शाश्वत पाथेय हमारे हृदयकी शोलीमें भरा है। कहाँ है वह भक्ति? उसके दर्शन दुर्लभ क्यों हो गये हैं? उत्तर स्पष्ट है। हमारे हृदयमें मोह है। उसकी दो वृत्तियाँ हैं—‘अहंता’ और ‘ममता’। देहमें अहंता प्रधान है, परिवार आदिमें ममता। मोहकी इन दोनों वृत्तियोंको मिटानेकी आवश्यकता नहीं है। बस, इन्हें भगवान्‌के साथ जोड़ना है। ‘मैं’ का पेट देहसे मत भरो, भगवान्‌-से भरो। ‘मेरापन’का पेट बेटेसे नहीं, धनसे नहीं, भगवान्‌से भरो। बस, मोहका रुख ईश्वरके सम्मुख कर दो। इसीका नाम ‘भक्ति’ है। इसी प्रकार काम, लोभ आदिका मुख भी भगवान्‌की ओर मोड़ दो। भगवान्‌ ही परम सुन्दर, परम प्रिय हैं। भगवान्‌ ही परम धन, सर्वस्व हैं। काम-लोभसे लड़ो मत! उनका रूपान्तर

कर दो । विषयके अतिरिक्त उनका और कोई रूप नहीं है । इसलिये जहाँ उनके विषयके रूपमें भगवान् होंगे, वहाँ ये ही 'भक्ति' बन जायेंगे । शान्ति युद्ध और संघर्षमें नहीं है, मनके भगवान् के साथ जुड़नेमें है । हम प्रह्लादके शब्दोंमें प्रार्थना करें कि 'अविवेकी पुरुष संसारके विषयोंमें जैसी प्रीति करते हैं, हमारी वैसी ही प्रीति आपके चरणोंमें बनी रहे'—

भगवान् के साथ प्रीति जोड़ें कैसे ? वृत्तियोंको कैसे मोड़ें ? विषयवासनाको कैसे छोड़ें ? इन चिराम्यस्त सम्बन्धोंको कैसे तोड़ें ? उपाय यह है कि धन, परिवार, कामिनी और शत्रुके स्थानपर भगवान् को बैठकर उन्हें निकाल फेंकिये । प्यार और प्यास, लोभ एवं क्षोभ, क्रोध एवं शोध भगवान् के साथ जोड़िये । उन्हींके लिये रोड़िये, हँसिये । उन्हींसे लड़िये-झगड़िये । सम्बन्धके सारे बन्धन उन्हींके साथ बाँधिये । आप देखेंगे कि भगवान् की प्राप्तिके लिये जो कुछ साधन-सामग्री चाहिये, वह आपको पहलेसे ही प्राप्त है ।

हमारी भक्तिका क्या रूप हो ? आप पहले विचार कीजिये कि आपको भगवान् का अधिक वियोग फुरता है या संयोग । दोनों ही स्थितियोंमें आप गोपियोंकी वियोग-लीला और मिलनलीलाका अनुसंधान कर सकते हैं । यदि हम संसारकी अच्छी वस्तुओंको अपने साथ सटाकर रखना चाहें और बुरी वस्तुओंको हटा देना चाहें और बादमें भक्ति करनेकी योजना बनायें तो वह कभी सधेगी नहीं । बहुत लोग योजना बनाते-बनाते ही मर जाते हैं । संसारकी सब वस्तुओंको हटाना-सटाना शक्य नहीं है । थोड़ी-सी वस्तुओंको भी हटाना-सटाना देरतकके लिये नहीं हो सकता । यह कार्यक्रम तो कभी समाप्त नहीं हो सकता । इनसे सुखी-दुखी होना मूर्खता है । इनको जहाँ-का-तहाँ, ज्यों-का-त्यों रहने दिया जाय । इनसे छेड़-छाड़ करके रार मचाना अनावश्यक है । हमें यही नीति अपनानी पड़ेगी कि—

'तू तो राम भजो, जग लड़वा दे ।'

मैंने एक महात्मासे प्रश्न किया—'संसारको कितना

सुधार दिया जाय, कैसा सँवार दिया जाय या इसमें कितना निखार दिया जाय कि इसको आप पसंद करेंगे ?' उन्होंने कहा—'भाई ! संसार तो हमें कभी पसंद न आयेगा । हमें तो जिसको पसंद करना था, पसंद कर चुके हैं । हम क्या इसीके लिये पैदा हुए हैं ? यहाँसे कबीरकी भाँति वेदाग जाना चाहिये—'दास कबीर जतनसे ओढ़ी, ज्यों-की-त्यों धरि दीन्हि चदरिया ।' भगवान् ने हमें अनेक प्रकारकी वृत्तियाँ इसलिये दी हैं कि हम ऊँचे नहीं । ईश्वरने दुःख इसलिये दिया है कि हम संसारमें अटकें नहीं । निद्रा इसलिये दी है कि हम भटकें नहीं । अपने प्रिय स्थान अन्तर्देशका ज्ञान बना रहे । चञ्चलता इसलिये दी है कि हम कहीं लटकें नहीं, किसीके प्रेममें फँस न जायँ । नित्य खीर खाते रहें, तो भी मन ऊँच जाता है । मन यदि चञ्चल है तो इस बंदरको मनमोहनके सामने नचाइये । वृत्तियाँ चञ्चल हैं तो इन अप्सराओंको भगवान् के सामने रासमें लगा दीजिये । इसीसे ईश्वरके साथ जुड़ना सहज हो जाता है । जब आप यह कल्पना करेंगे कि ईश्वर हमारे साथ जगता है, स्नान एवं खान-पान करता है, हमारे साथ सोता और चलता है, तब आप देखेंगे सचमुच ईश्वर आपके साथ है । आपकी कल्पनामें ईश्वरके आरुढ़ होते ही वह कल्पना न होकर सच्ची हो जायगी । आप गोपियोंके सम्भोग-विप्रलम्भात्मक संयोग-वियोगरूप प्रेमपर ध्यान दें, आपके हृदयमें वह प्रेम उतर आयेगा । भगवान् स्वयं प्रेमस्वरूप हैं । वे कुरुक्षेत्रमें यशोदा माताकी गोदमें सिर रखकर रोते हैं, सुदामाके पाँव औसुओंसे धोते हैं, रुक्मिणीके लिये उन्हें नींद नहीं आती । जीव और ईश्वर नित्य सखा हैं । उनके पास पहुँचे बिना जीव सुखी नहीं हो सकता । प्रारम्भ आस्तिकता, श्रद्धा, आस्था और दृढ़ निश्चयसे होता है । परंतु इसकी परिणति सत्यके साक्षात्कारमें होती है । सत्य अभी है, यहाँ है, यही है और तुमसे जुदा नहीं है । केवल एक बार उसकी ओर उन्मुख होनेकी आवश्यकता है ।

गीताका भक्तियोग-५

(पूज्य स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या)

[गताङ्क पृष्ठ १०३५ से आगे]

सम्बन्ध

भगवान् ने दूसरे श्लोकमें सगुण-उपासकोंको श्रेष्ठ योगी बतलाया तथा छठे और सातवें श्लोकोंमें 'ऐसे भक्तोंका मैं उद्धार करता हूँ' यह बात कही। अब इस श्लोकमें अर्जुनको ऐसा श्रेष्ठ योगी बनानेके उद्देश्यसे ही आज्ञा देते हैं।

श्लोक

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

भावार्थ

बुद्धिको भगवान् में प्रवेश करा देनेका अर्थ है कि बुद्धिमें भगवान् ही रहें और मनको उनमें स्थापित करनेका भाव यह है कि प्रेमपूर्वक चिन्तन भगवान् का ही रहे। मन-बुद्धि संसारमें लगे रहनेके कारण भगवान् अत्यन्त समीप होते हुए भी अत्यन्त दूर प्रतीत होते हैं। मन-बुद्धिमें संसारका जितना महत्त्व होगा, उतनी ही भगवान् से दूरी दिखायी देगी। इसलिये अर्जुनको भगवान् आज्ञा देते हुए कहते हैं कि 'तू मन-बुद्धिको संसारके किसी प्राणि-पदार्थमें न लगाकर मुझमें ही लगा; इस प्रकार मन-बुद्धि सर्वथा मुझमें लगानेसे तू मुझे प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।' इस श्लोकमें साधककी ध्यानसे आगेकी स्थितिका वर्णन है; क्योंकि ऐसी स्थिति होनेपर ध्यान स्वतः होता है, करना नहीं पड़ता। ऐसे साधककी स्मृतिमें तो स्मृति है ही, भूलमें भी स्मृति रहती है।

साधन-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान् की प्राप्ति किसी साधन-विशेषसे नहीं होती। साधन शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके आश्रयसे ही होता है। शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ आदि प्रकृतिके कार्य

होनेसे जड़ वस्तुएँ हैं। जड़ पदार्थोंके द्वारा भगवान् खरीदे नहीं जा सकते; क्योंकि सम्पूर्ण प्रकृतिके पदार्थ मिलकर भी चिन्मय परमात्माके तुल्य नहीं हो सकते।

साधक जिस क्षेत्रमें रहता है, उसे उसी क्षेत्रमें पुरुषार्थसे ही अभिलषित पदार्थ मिलते दीखते हैं। अतः स्वाभाविक ही उसका यह भाव रहता है कि 'पुरुषार्थके द्वारा ही पदार्थ मिलते हैं।' इसलिये भगवत्प्राप्तिके सम्बन्धमें भी वह यही सोचता है कि 'मेरे साधनसे ही भगवत्प्राप्ति होगी।'।

मनु-शतरूपा और पार्वतीको तपस्यासे ही अपने इष्टकी प्राप्ति हुई—इतिहास आदिमें ऐसी बातें पढ़ने-सुननेसे साधकके अन्तःकरणपर ऐसी छाप पड़ती है कि साधनसे ही भगवान् मिलते हैं और उसकी यह धारणा क्रमशः दृढ़ होती रहती है। किंतु साधनसे ही भगवान् मिलते हों, ऐसी बात है नहीं। तपस्यादि साधनोंसे जहाँ प्राप्ति हुई दीखती है, वहाँ भी जड़के साथ माने हुए सम्बन्धका सर्वथा त्याग होनेसे ही वह हुई है, न कि साधनोंसे। साधनकी सार्थकता असाधनको दूर करनेमें अर्थात् जड़के साथ जोड़े हुए सम्बन्धका त्याग करानेमें है। जड़के साथ सम्बन्धका सर्वथा त्याग होनेपर भगवान् स्वतः प्राप्त हैं ही। अतः अपने साधनसे जो साधक भगवत्प्राप्ति मानते हैं, वे बड़ी भूलमें हैं। जिस साधनका तात्पर्य जड़ताका त्याग करानेमें है, उस साधनमें ममता करनेसे और उसका आश्रय लेनेसे जड़के साथ सम्बन्ध बना रहता है। जबतक जड़ताका यत्किंचित् भी आदर है, तबतक भगवत्प्राप्ति असम्भव है। इसलिये साधकको चाहिये कि शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंसे

और उनके द्वारा होनेवाले साधनसे भगवत्प्राप्ति होगी—
ऐसी मान्यता न रखकर जडके साथ सर्वथा सम्बन्ध-
विच्छेद कर ले ।

जडके साथ सम्बन्धका सर्वथा त्याग करनेके तीन
मुख्य साधन हैं—(१) ज्ञानमार्गमें—विवेकके द्वारा
जडताका त्याग कर दे; (२) कर्मयोगमें—प्राणीमात्रकी
सेवामें जड पदार्थोंको लगाकर सेवाके द्वारा जडतासे
सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर ले और (३) भक्तिमार्गमें—
भगवान्में मैं-मेरेपनके भावकी अखण्ड-जागृति करके
जड संसारसे सर्वथा विमुख हो जाय ।

अन्वय

मयि, मनः, आधत्स्व, मयि, एव, बुद्धिम्, निवेशय,
अतः, ऊर्ध्वम्, मयि, एव, निवसिष्यसि, संशयः, न ॥ ८ ॥

मयि मनः आधत्स्व मयि एव बुद्धिम् निवेशय—
(मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा ।)

भगवान्के साथ जिनका नित्य संयोग है और उनसे
कभी वियोग होता ही नहीं, भगवान्के मतमें वास्तवमें
वे ही 'उत्तम योगवेत्ता' हैं । अर्जुनको निमित्त बनाकर
सभी साधकोंको योगवेत्ता बनानेके उद्देश्यसे भगवान्
आज्ञा देते हैं कि 'मुझको ही परम श्रेष्ठ और परम प्राप्य
मानकर बुद्धिको मुझमें लगा दे और मुझको ही अपना
प्यारेसे-प्यारा मानकर मेरे ही चिन्तनमें अपने मनको
लगा दे ।'

मन-बुद्धि लगानेका तात्पर्य यह है कि अभीतक जिसका
मन जड संसारमें ममता, आसक्ति, सुख-भोगकी इच्छा,
आशा आदिके कारण बार-बार संसारका ही चिन्तन करता
है एवं बुद्धि संसारमें ही ठीक-बेठीकता निश्चय करती है,
जिसके कारण वह जीव संसारमें फँसा हुआ है, वह संसारसे
हटाकर मनको बार-बार भगवान्में लगाये एवं बुद्धिके
द्वारा दृढ़तासे निश्चय करे कि 'मैं केवल भगवान्का ही
हूँ और भगवान् ही केवल मेरे हैं, सर्वोपरि, परम श्रेष्ठ,
परम प्राप्य भगवान् ही हैं ।' ऐसा बार-बार अन्यास

करते रहनेसे संसारका चिन्तन और आदर क्रमशः
घटने लगता है और अन्तमें सर्वथा नष्ट हो जाता है
तथा एक भगवान्के साथ ही मेरापन रह जाता है ।
यही मन-बुद्धिका भगवान्में लगाना है ।

मन-बुद्धि लगानेमें बुद्धिका लगाना ही मुख्य है ।
किसी विषयमें बुद्धिका ही निश्चय पहले होता है और
फिर मन बुद्धिके उस निश्चयको स्वीकार कर लेता है ।
तत्पश्चात् बुद्धि संशयरहित हो उस विषयमें स्थिर हो
जाती है । जिन पुरुषोंका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति नहीं
है, उनकी भी मन-बुद्धि वे जिस विषयमें उन्हें लगाना
चाहेंगे, उस विषयमें लग जायँगी और उस विषयमें
मन-बुद्धि लग जानेपर शक्तियों और सिद्धियोंकी
तो प्राप्ति हो सकती है, किंतु उद्देश्य भगवत्प्राप्तिका न
होनेसे भगवत्प्राप्ति नहीं होगी । अतः साधकोंको चाहिये कि
बुद्धिसे यह दृढ़ निश्चय कर ले कि 'मुझे भगवत्प्राप्ति ही
करनी है ।' इस निश्चयमें बड़ी शक्ति है । भगवान्ने
दूसरे अध्यायके ४१वें श्लोकमें व्यवसायात्मिका बुद्धि-
की बड़ी प्रशंसा की है । ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि
होनेमें भोग और संग्रहमें सुखकी आशा ही महान्
बाधक है । संसारमें सुखकी आशासे ही मनुष्यकी
वृत्तियाँ धन-मान आदिको लक्ष्य करती रहती हैं, इसलिये
उसकी अनन्त बुद्धियाँ हो जाती हैं (गीता २ । ४४) ।
इस दृढ़ निश्चयमें इतनी पवित्रता है कि दुराचारी-से-
दुराचारी पुरुषको भी भगवान् साधु माननेके लिये अर्जुनसे
कहते हैं । इस निश्चयके प्रभावसे वह शीघ्र ही धर्मात्मा
हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त
हो जाता है (गीता ९ । ३०-३१) ।

'मैं भगवान्का ही हूँ और भगवान् ही
मेरे हैं'—साधककी दृष्टिमें ऐसा निश्चय बुद्धिमें
होता है, परंतु बात वास्तवमें ऐसी नहीं है । बुद्धिमें
ऐसा निश्चय दीखनेपर भी साधक स्वयं भगवान्में स्थित

है, उसे इस बातका पता नहीं होता। वह इसे जानता नहीं, पर वास्तवमें बात यही है। भगवान्‌में स्थित होनेकी क्या पहचान है ? इसकी पहचान यह है कि वह इस सम्बन्धको कभी भूलता ही नहीं। यदि केवल बुद्धिकी ही बात हो तो भूल भी जाय, पर मैपनकी बातको कभी भूलता नहीं। उदाहरणके लिये कोई शिष्य बुद्धिसे निश्चय कर लेता है कि मैं अमुक गुरुजीका शिष्य हूँ—वह उस सम्बन्धके लिये कोई अभ्यास नहीं करता तो भी वह निश्चय उसके भीतरमें अटल रहता है—यादमें तो याद है ही, भूल भी याद है; क्योंकि मैं-पनमें है। ऐसे ही बुद्धिसे निश्चय होनेपर कि मैं केवल भगवान्‌का हूँ, भगवान्‌ ही केवल मेरे हैं, यह निश्चय साधकके भीतर अटल पड़ा रहता है। अर्थात् वह स्वयं भगवान्‌में स्थित है, ऐसा निश्चय होनेपर मन-बुद्धि भगवान्‌में स्वतः लग जाती हैं।

भक्तिमार्ग और भक्तिप्रधान कर्मयोगमें मैं-मेरे-पनका भाव संसारसे सर्वथा हटकर भगवान्‌में ही रहता है। एवं ज्ञानमार्ग और कर्मप्रधान कर्मयोगमें 'मैं'का सर्वथा अभाव होकर एक ब्रह्मका ही भाव रहता है। अतः मैपनके भावको बदलनेसे या मैपनका अभाव होनेसे मन-बुद्धि स्वतः परमात्मामें लग जायँगी।

भगवान्‌में मेरेपनके भावको स्थिर करनेके

सुगम उपाय

वैसे साधारणतया हमारी अहंता अर्थात् मैपन शरीर और मन-बुद्धिके साथ दीखता है, परंतु वास्तवमें उसके साथ है नहीं। बचपनसे लेकर आजतक मैं वही हूँ; पर शरीर, मन-बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि सब-के-सब बदल गये। अतः 'मैं बदलनेवाला नहीं हूँ'—इस बातको आजसे ही दृढ़तापूर्वक मान ले। (वैसे साधारणतया मानना बुद्धिसे होता है, पर यहाँ स्वयंसे माननेकी बात है।)

कैसे मानें ? एक ओर मैं नहीं बदला—यह सभीका प्रत्यक्ष अनुभव है और आस्तिक बुद्धिकी मान्यताशालोंके एवं भगवान्‌में श्रद्धा रखनेवालोंके भगवान्‌ कभी नहीं बदले; दूसरी ओर शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ आदि सब-के-सब बदल गये और दीखनेवाला संसार बदलता हुआ दीखता है। इसलिये न बदलनेवाला मैं और भगवान्‌ दोनों एक जातिके हैं, जब कि बदलनेवाला शरीर और संसार दोनों एक जातिके हैं। न बदलने-वाला मैं और परमात्मा—दोनों ही व्यक्तरूपसे नहीं दीखते, जब कि बदलनेवाला शरीर और संसार दोनों ही व्यक्तरूपसे प्रत्यक्ष दीखते हैं। अतः बदलनेवाला मैं नहीं हूँ, यह प्रत्यक्ष है।

'मैं'के होनेमें सदेह नहीं, मैपनका अभाव भी नहीं। मैं क्या हूँ, इसका तो पता नहीं; पर मैं हूँ, यह निस्संदेह बात है। जैसे संसार प्रत्यक्ष दीखता है, ऐसे ही मैपनका भी भान होता है। अतः 'मैं' क्या है, यह अनुभव करना साधकके लिये बहुत उपयोगी है। 'मैं' क्या है—इसका अनुभव कैसे करें ? 'मैं' क्या है, इसका तो पता नहीं; परंतु संसार कैसा है, यह तो पता है ही। संसार उत्पत्ति-विनाशवाला है, सदा एकरस रहनेवाला नहीं है—यह सभीका अनुभव है; अतः इस अपने अनुभवको हर समय स्थायी रखो। यह नियम है कि संसार और 'मैं'—दोनोंमें किसी एकका पता ठीकसे लगानेपर दूसरेका पता स्वाभाविक—अपने-आप लग जायगा।

मैं चेतन और नित्य होनेसे उत्पत्ति-विनाशवाले जड संसारसे मेरा सम्बन्ध नहीं। मेरा तो स्वतःसिद्ध सम्बन्ध भगवान्‌से है, सदासे है। इस सम्बन्धको पहचानना ही 'मैं' क्या है, इसका अनुभव करना है और इस सम्बन्धको पहचान लेनेपर मन-बुद्धि स्वतः भगवान्‌में लग जायँगी।

जिन साधकोंका भगवान्में स्वाभाविक श्रद्धा और प्रेम है, उनके लिये यह साधन अत्यन्त उपयोगी है।

मयि (मुझमें) । इसी अध्यायके २२रे श्लोकमें भगवान्ने 'माम्' और 'मयि' पदोंका अपने जिस स्वरूपके लिये प्रयोग किया है, उसीके लिये यहाँ 'मयि' पद आया है।

'एव' (ही) । यहाँ 'एव' पद अनन्यताके लिये है। भगवान्ने गीताजीमें स्थान-स्थानपर अपने प्रति अनन्यता लानेपर बहुत जोर दिया है। सातवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'मामेव' और अठारहवें अध्यायके ६६वें श्लोकमें 'मामेकम्' पदोंको इसी अनन्यताके लिये कहा गया है।

आठवें अध्यायके ७वें श्लोकमें 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' पदके द्वारा साधकोंको भगवान्में मन-बुद्धि अर्पित करनेके लिये प्रेरित किया गया है।

इसी अध्यायके १४वें श्लोकमें 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' पद जिसकी मन-बुद्धि भगवान्में सर्वथा अर्पित हो गयी है, ऐसे सिद्ध भक्तके लिये आया है।

अतः ऊर्ध्वम्—(इसके उपरान्त (तू)

इस पदका अभिप्राय यह है कि जिस क्षण मन-बुद्धि भगवान्में पूरी तरह लग जायँगी, उसी क्षण भगवत्प्राप्ति हो जायगी। ऐसा नहीं है कि मन-बुद्धि लगानेके बाद उनकी प्राप्तिमें कालका कोई व्यवधान रह जायगा।

मयि एव निवसिष्यसि (अत्र) संशयः न— (मुझमें ही निवास करेगा, इसमें (कुछ भी) संशय नहीं (है))

भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन ! तू मुझमें ही निवास करेगा—इसमें संशय नहीं है।' इसका अर्थ यह निकलता है कि अर्जुनके मनमें संशयकी

गुंजाइश है, तभी तो भगवान् 'न संशयः' पद देते हैं; यदि संशय होनेकी गुंजाइश ही न होती तो इस पदके देनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

मनुष्यके हृदयमें प्रायः यह बात जँची हुई है कि कर्म अच्छे होंगे, आचरण अच्छे होंगे, एकान्त आदिका सेवन करके ध्यान लगायेंगे, तब परमात्माकी प्राप्ति होगी और यदि ऐसे साधन नहीं हुए तो कल्याण सम्भव है, इस संशयको दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं कि 'मेरी प्राप्तिका उद्देश्य रखकर मन-बुद्धिको मुझमें लगाना जितना कीमती है, उतने कीमती ये सब साधन नहीं हैं। अतः मन-बुद्धि मुझमें लगानेसे निश्चय ही मेरी प्राप्ति होगी, इसमें कोई संशय नहीं है।' जबतक बुद्धिमें संसारका महत्त्व है, मनसे संसारका चिन्तन होता रहता है, तबतक वास्तविक स्थिति परमात्मामें होते हुए भी संसारमें ही स्थिति है। संसारका सङ्ग रहनेसे संसारचक्रमें घूमना पड़ता है। उपर्युक्त पदोंसे अर्जुनका संशय दूर करते हुए भगवान् कहते हैं कि 'तू चिन्ता मत कर कि मुझमें मन-बुद्धि सर्वथा लगानेपर तेरी स्थिति कहाँ होगी। जिस क्षण तेरी मन-बुद्धि एकमात्र मुझमें सर्वथा लग जायँगी, उसी क्षण तू मुझमें ही निवास करेगा; क्योंकि तेरी मन-बुद्धिमें मेरे प्रति प्रियता और मेरा ही आदर है। अतः मेरे सिवा तेरी स्थिति कहाँ होगी ? अर्थात् मुझमें ही होगी।

'अन्तकालमें मन जिसका चिन्तन करेगा, उसीकी प्राप्ति होगी (गीता ८ । ६) । जब मन-बुद्धिको मुझमें ही लगा दिया, तब अन्तकालमें मेरा ही चिन्तन होगा, अतः निस्संदेह मेरी ही प्राप्ति होगी।'

'यहाँ साधक भगवान्से यह प्रश्न कर सकता है—'मन-बुद्धि आपमें लगानेके बाद मेरे कर्मोंका क्या फल होगा ? मुझे सिद्धि प्राप्त होगी कि नहीं ? मेरे आचरण अच्छे होंगे कि नहीं ? मेरे भाव कैसे होंगे ? मेरी गति क्या होगी ? आदि-आदि।'

भगवान् कहते हैं—‘मन-बुद्धि मुझमें लगानेपर तुझे यह विचार करनेकी किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है। तू तो मुझमें ही निवास करेगा, इसमें संशय नहीं है।’

मन-बुद्धि भगवान्में लगानेके सिवा साधकके लिये और कोई कर्तव्य नहीं है। भगवान्में बुद्धि लगानेपर वह संसारके आश्रयसे रहित हो जायगा, मन भगवान्में लगनेसे संसारका चिन्तन नहीं होगा—संसारका किसी प्रकारका आश्रय और चिन्तन न रहनेसे भगवान्का आश्रय और भगवान्का ही चिन्तन होगा। भगवान् कहते हैं—‘मेरे आश्रय और चिन्तनसे मेरी ही प्राप्ति होगी। अतः मन-बुद्धि लगानेपर निस्संदेह तू मुझमें ही निवास करेगा।’

भगवान् कहते हैं कि ‘यदि तू मन-बुद्धि मुझमें लगायेगा तो तेरी अचल श्रद्धा मैं अपने प्रति कर दूँगा।’ सातवें अध्यायके २१वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि ‘सकाम साधक जिस-जिस देवताको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस साधककी उस-उस देवताके प्रति श्रद्धाको मैं स्थिर कर देता हूँ।’ जब सकाम साधककी भी श्रद्धा उस देवताके प्रति भगवान् अचल कर देते हैं, तब अपनेमें मन-बुद्धि लगानेवालेकी श्रद्धाको अपनेमें क्यों नहीं अचल कर देंगे ? अवश्य कर देंगे। भगवान् कहते हैं कि ‘ऐसा होनेपर फिर तू मुझसे अलग नहीं हो सकेगा, मुझे ही प्राप्त होगा।’

जीवात्मा परमात्माका अंश है ही (गीता १५।७)।

मन-बुद्धिके राग-द्वेषपूर्वक संसारमें लगनेसे ही जीव अपनेको भगवान्से विमुख मानता है। यदि वह मन-बुद्धिको सर्वथा भगवान्में ही लगा दे तो उसकी स्वतः परमात्मामें ही स्थिति रहेगी; क्योंकि अंश अंशीसे अलग नहीं रह सकता। भगवान् यहाँ कहते हैं कि ‘हे अर्जुन ! जब तुमने मन-बुद्धिको मुझमें ही लगा दिया, तब फिर तुम्हारी अपनी स्थिति स्वतः मुझमें हो गयी। इसलिये तुम्हें संशय करनेकी आवश्यकता नहीं है।’

आठवें अध्यायके ५वें श्लोकमें और दसवें अध्यायके ७वें श्लोकमें ‘न संशयः’ पद इसी भावमें भगवत्प्राप्तिविषयक संशय-निवृत्तिके लिये आया है।

चौथे अध्यायके ४२वें श्लोकमें ‘संशयम्’ पद अज्ञानके कारण होनेवाली ईश्वर, परलोक, आत्मा और जीवविषयक शङ्काओंके लिये आया है।

चौथे अध्यायके ४०वें श्लोकमें ‘संशयात्मा’ और ‘संशयात्मनः’ पद एक ही अर्थमें अर्थात् जिसको हरेक विषयमें संशय होता रहता है, जो अपने अविवेकके कारण ठीक समझ पाता नहीं और महापुरुषोंके निर्णयमें संशय करता रहता है—ऐसे पुरुषके लिये ये दोनों पद आये हैं। ऐसा संशय साधकके लिये साधनामें अति बाधक है।

सिद्धिको प्राप्त न हुए साधकका कभी पतन तो नहीं हो जाता—इस बातको लेकर अर्जुनके मनमें जो संशय हुआ—उसी संशयकी ओर छठे अध्यायके ३९वें श्लोकमें आये हुए ‘संशयम्’ और ‘संशयस्य’ पद लक्ष्य कराते हैं। (क्रमशः)

प्रभु-मिलनका सुख

भई अब मैं बैरागन बौरी, लागी हरि सों ठौरी ।
छाँड़ी लोकलज, चतुपाई, वंसी सुनि उठि दौरी ॥
ढूँढ़त-ढूँढ़त कान्हा भेंटे, सुख नहि जात कछौरी ।
‘मानपुरी’ प्रभु परगट देखा, जहँ-तहँ धाय रह्यौ री ॥

—संत मानपुरीजी

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

मनको उधेड़-बुनसे खाली करके उसमें प्रभुकी
मुख-शोभाको भरिये ।

विचार कीजिये—आपका घर और घरवाले आपके नहीं हैं। आप इसे अतिथिशाला, धर्मशाला मानें तथा इसमें रहनेवालोंको विभिन्न मार्गोंपर जानेवाले बटोही समझें। खूब प्रेम करें; पर वह प्रेम ठीक-ठीक वैसा ही होना चाहिये, जिससे असली घरकी विस्मृति न हो जाय। थोड़ी देरके लिये गम्भीरतासे विचारें—मृत्यु होनेके बाद आपका घरसे क्या सम्बन्ध रहेगा ? जब एक दिन यह सम्बन्ध निश्चित छूट ही जायगा, तब वैसे घरमें यदि कम दिनके लिये रहनेको मिला तो दुःख किस बातका ? दुःख तो इस बातके लिये भले ही होना उचित है कि 'ओह ! कितना काल बीत गया, स्वामीके घर—असली घरमें एक बारके लिये भी पैर नहीं रखा ।'

आपकी यह अभिलाषा बड़ी सुन्दर है—'क्या किसी दिन यह जीवन भी होगा, जब श्रीगोपियोंकी तरह सारा विश्व प्रभुमय दीख सकेगा, सचमुच कामना और आसक्तिसे रहित मेरा हृदय किसी दिन एकमात्र प्रभुके लिये व्याकुल हो उठेगा ?' ऐसी अभिलाषा भगवान्की अपार कृपासे ही होती है। अतः जो प्रभु आपके हृदयमें बैठकर इन भावोंकी स्फुरणा कर रहे हैं, वे अवश्य तथा निश्चय ही आगेका मार्ग भी प्रकाशित करेंगे। आप उनकी करुणापर विश्वास कीजिये। हृदयकी सारी शक्ति बटोरकर मनमें यह निश्चय दृढ़तासे जमा लीजिये कि आपके ऊपर एकमात्र उन्हींका अधिकार है और फिर बस, एक ही बातके लिये हृदय निरन्तर पुकारे—'मेरे नाथ ! वही करो, जो तुम्हारी इच्छा हो; बस, वही करो। तुम यन्त्री हो, मैं यन्त्र हूँ; तुम नचानेवाले हो, मैं कठपुतली हूँ ।'

'क्या हुआ, क्या नहीं हुआ; क्या होता है, क्या नहीं होता; क्या होगा, क्या नहीं होगा'—इस उधेड़-बुनसे मनको खाली करनेकी भरपूर चेष्टा कीजिये। इसके बदले मनमें भरिये उनकी अनुपम मुखशोभा, भरते चले जाइये। करना केवल इतना ही है। सच मानिये, मन जितना उस माधुरीसे सनेगा, उतनी ही शीघ्रतासे राह कट जायगी।

अनादिकालके पापके संस्कारोंने, आसक्तिने मनको मेल कर रखा है। इसीलिये वह उस सौन्दर्यमें न रमकर जागतिक सौन्दर्यमें रमता है। श्रद्धेय श्रीभाईजीने एक बार अपने अनुभवकी बात बतायी थी—'नाम लेते जाओ। जितना अधिक लोगे, उतनी ही शीघ्रतासे मल धुलेगा।' यह बात बिल्कुल ठीक जँचती है, अनुभवमें भी आती है। इसीलिये खूब नाम लें और साथ-साथ मनको भी उनमें डुबाते चले जायें। फिर सब अपने-आप हो जायगा।

मनको जगत्की बातोंसे खाली करके प्रियतम
प्रागनाथकी छविके स्मरणसे भरें।

पारिवारिक उलझनोंको लेकर आपको उद्वेग होता है, यह स्वाभाविक है; पर जबतक इससे छूटनेका जो वास्तविक उपाय है, उसे नहीं करेंगे, तबतक व्याकुलता मिटनी, उद्वेग मिटना बड़ा ही कठिन है। परमार्थके पथिकके लिये यह सर्वथा उड़ा देनेकी चीज है; पर आपका मन कमजोर है; मनमें आसक्ति है और सबसे बड़ी बात यह है कि आपका मन जैसा प्रभुके चरणोंमें लगाना चाहिये, वैसा नहीं लग रहा है। इसीलिये ये उलझने विकटरूपमें दीख रही हैं। सच मानिये, बहुत अधिक आवश्यकता इस बातकी है कि आप इन परिस्थितियोंको बिल्कुल महत्त्व न देकर, एकान्त एवं शान्तचित्तसे अपना मन प्रभुके चरणोंमें

लगानेकी चेष्टा करें । यदि आप चाहेंगे कि परिस्थिति पलटे तो ऐसा होना बड़ा ही कठिन है । इसका कारण यह है कि जगत्के प्रत्येक प्राणीकी प्रत्येक चेष्टाके क्षुद्र-से-क्षुद्र अंशका नियन्त्रण भगवान्की शक्तिसे होता है और उसमें कितना मङ्गल, किसका कैसे होता है, इसे केवल भगवान् जानते हैं । पर मङ्गल-ही-मङ्गल होता है, यह प्रत्येक उच्च संतका प्रत्यक्ष अनुभव है । अतः आपकी दृष्टिमें आपके मनसे सर्वथा प्रतिकूल चेष्टा करनेवालेकी प्रत्येक चेष्टा उनकी शक्तिसे नियन्त्रित है । वे चाहें तभी वे पलट सकती हैं, अन्यथा नहीं पलटेंगी— इस बातपर विश्वास होना बड़ा कठिन है । नहीं तो यह विश्वास होते ही सारा दुःख तत्क्षण मिट जाय ।

आप इस फेरमें मत पड़िये कि 'मेरा व्यवहार कैसे सुधरे, मैं अपने परिवारके व्यक्तियोंसे कैसा आचरण करूँ कि उनका और मेरा परम कल्याण हो ।' आप उनकी चिन्ता छोड़ दीजिये और यह चिन्ता भी छोड़ दीजिये कि 'मेरा व्यवहार सुधर जाय; ऐसा हो जाय कि वे लोग मुझसे प्रसन्न हो जायँ ।' ऐसा विचार करना लाभदायक होता है, पर सबके जीवनमें सब अंशोंमें एक प्रकारकी ही साधनाका क्रम नहीं हो सकता ।

संसारके प्रति उपरामताको रखते हुए बार-बार मनकी विखरी हुई वृत्तियोंको इस कोलाहलसे हटाकर नित्य सुखमय प्रभुके चरणोंमें जोड़ते रहना—आप इसे ही करें । यदि आप मनको जगत्की एवं घरकी बातोंसे खाली करके प्रियतम प्राणनाथकी छविके स्मरणसे भरेगे तो ये बातें इतनी तुच्छ-सी प्रतीत होंगी कि उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती । भगवान्की पूर्ण कृपा आपपर है । इतना ही नहीं, ये जटिल समस्याएँ भी आपको कीचड़से निकालनेके ही उपक्रम हैं ।

हृदयका एक बहुत बड़ा अंश अभी सांसारिक आसक्तियोंसे घिरा हुआ है । शायद आपको पता भी

नहीं चलता होगा कि वह सांसारिक आसक्ति कैसी है, कहाँ है, किस रूपमें है; पर वह है । इन सारी आसक्तियोंको छोड़नेके लिये तैयार होना पड़ेगा । छूटेगी तो प्रभुके छुड़ाये, पर चाह आपको ही करनी पड़ेगी । सारांश यह है कि जिस-किसी भी प्रकारसे मनको इन उलझनोंको सुलझानेमें न लगाकर इनको भूलनेकी चेष्टा करें । थोड़ा कठिन है, पर प्रभु सहायक हैं; सब हो सकता है । आप गृहस्थ हैं और जवतक प्रभु चाहेंगे, तवतक उसमें रहना ही पड़ेगा । फलतः जीवन-निर्वाहके लिये भी चेष्टा करनी ही पड़ेगी । उसे कीजिये; कमाते हैं तो न्यायकी कमाई हो और उससे जो प्राप्त हो, उसे आपके परिवारकी जो सँभाल कर रहे हों, उन्हें सौंप दीजिये । घरमें सबसे सम्मान, प्रेम, हित और सत्य— इन चारों बातोंको ध्यानमें रखकर ही व्यवहार कीजिये । बड़ी शान्तिसे रहिये । किसी दूसरेकी अशान्तिसे आप यदि अशान्ति मोल लेते हैं तो भूल करते हैं । ध्यान रखिये—कुछ भी अनहोनी नहीं होगी, एक पत्ता भी प्रभुके विधानसे ही हिलेगा । सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति, इज्जत-वेइज्जती—सब ठीक नियमसे आयेंगे, उनके विधानसे आयेंगे । इसपर विश्वास करें, न करनेसे दुःख बढ़ेगा । कभी कुछ, कभी कुछ सोचते-सोचते माथा गंदे भावोंसे भरेगा । ऐसा न होकर वह भरे एकमात्र प्रभुके स्मरणसे, यह चेष्टा कीजिये ।

भजनके लिये भजन, चिन्तनके लिये

चिन्तन करनेकी चेष्टा कीजिये ।

'जब नित्य-कर्म करने बैठता हूँ तो तमोगुण बहुत आ जाता है, ऊँघने लगता हूँ; इससे बहुत विक्षेप होता है ।' इस प्रश्नके उत्तरमें विचार करनेपर तीन बातें ध्यानमें आती हैं—(१) जिसकी पाचनशक्ति खराब होती है, उसे आलस्य विशेष आता है; (२) आवश्यकता-भर नींद रातमें न ली जाय तो दिनमें आलस्य आता है और (३) भगवान्के चरणोंमें

प्रेम न होनेके कारण उनके चिन्तनमें आनन्द नहीं आता और इसलिये वृत्तियाँ आलस्यसे अभिभूत होती हैं। ये ही तीन कारण प्रायः हेतु होते हैं। आप यथासम्भव पहले दो कारणोंपर विचार करके उनमेंसे कोई-सा होनेपर उन्हें सात्त्विक उपचारसे एवं आवश्यकता-भर नींद लेकर दूर करनेकी चेष्टा करें। पर ये दोनों ही गौण हैं। मुख्य बात तीसरी है। जिस क्षण प्रियतम प्रभुके चिन्तनमें रस आने लगेगा, उस क्षण आलस्य सर्वथा नहीं आ सकता। प्रेमी महात्मा तो ऐसे-ऐसे हो गये हैं कि वे कभी सोते ही न थे। उन्हें जागनेकी चेष्टा करनी पड़ती हो, ऐसी बात नहीं। स्वाभाविक निरन्तर प्रेममें डूबे रहनेके कारण वे मायासे सर्वथा पार हो जाते हैं। पर हमलोग तो अभी जिस स्थितिमें हैं, उसीको लेकर विचार करना है। अतः किसी प्रकार भजन एवं चिन्तनका रस आने लगे तो यह दोष दूर हो जाय। किंतु इससे भी एक ऊँची बात यह है कि रस आनेका भी भाव छोड़कर केवल भजनके लिये भजन एवं चिन्तनके लिये चिन्तन करनेकी चेष्टा की जाय। रस आना तो भजन एवं चिन्तनका आनुषङ्गिक फल है, वह तो आकर ही रहेगा (जबतक नहीं आता, तभीतक ये दोष हैं)। इसलिये अपनी जानमें आलस्यके वशमें न होनेका बार-बार दृढ़ निश्चय करके भजन एवं स्मरणको बढ़ानेकी चेष्टा करें, उनकी कृपापर विश्वास करें। बस, आपका इतना ही काम है। वे चाहें तो अभी, इसी क्षण आपकी दशा महाप्रभु चैतन्य-देवकी-सी कर दें, जो निरन्तर १२ सालतक रोते रहे। यह विश्वास भी बहुत सस्ते मिलेगा। अवश्य ही, गौड़ीय महात्माओंका विश्वास है कि महाप्रभु स्वयं

श्रीकृष्ण ही थे। अतः अपने मनमें ऐसी शङ्का हो सकती है कि वैसी अवस्था मेरी कैसे होगी। तो उन्हें छोड़ दें। आजतक जितने प्रेमी भक्त हो गये, उनकी ही बात सोचिये। आप विश्वास कीजिये—(१) श्रीकृष्णका जो सम्बन्ध उन प्रेमी महात्माओंसे था, ठीक वही-का-वही सम्बन्ध आपके साथ है। (२) उनमें विषमता नहीं है, वे आपको भी ठीक उतना ही प्यार करते हैं। (३) आपकी सब बात जानते हैं। (४) उनसे बढ़कर आपका हित करनेवाला न कोई है, न था, न होगा। (५) वे सर्वसमर्थ हैं, जिस क्षण जो चाहें, कर सकते हैं।

यदि इन पाँच बातोंपर दृढ़ विश्वास जमा सकें तो समझना चाहिये कि आप तो पूर्ण समर्पणके मार्गपर आरूढ़ हो गये। इसलिये सब चिन्ता छोड़कर इन पाँच बातोंपर विश्वास कीजिये—अडिग अटूट विश्वास कीजिये और जीभसे उनका अधिक-से-अधिक नाम लीजिये। मनको भी यथासम्भव लगानेकी चेष्टा कीजिये; पर न लगे तो ध्वराइये मत, निराश मत होइये। फिर कोई दोष नहीं रहेगा, सर्वथा निर्दोष बनाकर वे स्वयं आपको कलेजेसे लगा लेंगे। देरी नहीं होगी; इतनी जल्दी होगी जितनी आप कल्पना भी नहीं कर सकते। पर यह सब विश्वास करनेसे होगा। इस विश्वासको प्राप्त करनेके लिये जो भी करना पड़े, वह करनेके लिये सच्चे मनसे तैयार हो जाइये; फिर विश्वास भी बहुत सस्ते मिलेगा। अवश्य ही, इस सौदेके लिये आपको तैयार होना चाहिये।

हरि-विमुखताका परिणाम

हरि-सा हीरा छाड़ि कै, करै आनकी आस ।
ते नर जमपुर जाहिगे, सत भाषै रैदास ॥

—संत रैदास



जन्म कर्म च मे दिव्यम्

(संतप्रवर परमहंस पं० श्रीरामचन्द्रजी शास्त्री डोंगरे महाराज)

[प्रेषिका—श्रीमती राधारानी चतुर्वेदी]

वत्सासुर-वकासुर-अवासुर-वध

जब गोकुलकी लीला पूर्ण हुई, तब भगवान् कृष्ण-चन्द्रकी उम्र पाँच वर्षकी थी। लालाको वृन्दावन जानेकी इच्छा है।

गोकुलमें उत्पात होते हुए देखकर उपनन्द काकाने सूचित किया “कि हम सब बालकोंको लेकर अन्य स्थानपर रहनेके लिये चलें। इधरसे थोड़ी दूरपर वृन्दावन नामका वन है—“वनं वृन्दावनं नाम।” वह रहने योग्य है।” यह बात सबको अच्छी लगी। राम-कृष्णको आनन्द हुआ। क्रीड़ांमें बहुत आनन्द आयेगा। सब लोग राम-कृष्णके साथ वृन्दावनमें रहने आये हैं।

वृन्दावन अर्थात् भक्ति। वृन्दावन अर्थात् भक्तिका वन। बालक पाँच वर्षका हो जाय, तब उसे गोकुलमेंसे—चाहे जैसे लाड़-प्यारमेंसे, वृन्दावन ले जाओ। अर्थात् उसे भक्तिके वनमें ले जाओ। बालकके पाँच वर्षका होनेके बाद बालकका लाड़ मत करना। बालकमें धर्मके संस्कार दृढ़ करनेके लिये उसे वचनमें ही धर्मकी शिक्षा देना प्रारम्भ करो। एकादशीके दिन बालकको अन्न मत दो। जो माता-पिता बालकको अच्छे संस्कार नहीं देते, वे बालकके दुश्मन हैं। जो माता-पिता बालकको धर्मकी शिक्षा, भक्तिकी शिक्षा नहीं देते, वे बालकके जीवनको विगाड़नेके उत्तरदायी हैं।

बालकके मनमें विचार शीघ्र ही बैठ जाते हैं। बालकका हृदय कोमल होता है—उसको जिस ओर मोड़ोगे, उसी ओर वह मुड़ जायगा। अतएव बाल्यावस्थामें बालकोंको अच्छे संस्कार प्रदान करोगे तो युवावस्थामें वह नहीं विगड़ेंगा। ये अच्छे संस्कार ही उसकी रक्षा करेंगे।

कृष्णको उपनन्द काका वनमें ले गये। जिसे ज्ञानी बयोबुद्ध संतांका सङ्ग प्राप्त होता है, उसके पतनका डर नहीं रहता। यदि कोई अकेला ही चलनेको जाता है तो उसके गिरनेका डर रहता है। किसीका हाथ पकड़कर चलोगे तो गिरनेका डर नहीं रहेगा। ईश्वरका हाथ पकड़कर चलोगे तो गिरनेका डर नहीं रहेगा।

वृन्दावनमें अकेले नहीं जाना चाहिये। अन्योको भी अच्छे सत्कर्मोंमें प्रेरणा देनी चाहिये। अतएव वे गोप-गोपियोंके सङ्ग वृन्दावन गये। वृन्दावनमें गोवर्द्धन पर्वत और यमुनाका तट देखकर राम-कृष्णको अतिशय आनन्द हुआ। वृन्दावनमें आनेके बाद गोपाल वत्सपालक हुए। सङ्गके ग्वालकोंके साथ वे बछड़ोंको चराने जाते थे, यमुनाके तटपर ग्वालकोंके साथ अनेक प्रकारके खेल खेलते थे। ये खेल दिव्य हैं।

भागवत, दशमस्कन्धके ग्यारहवें अध्यायमें भगवान् वत्सपाल बनते हैं। पंद्रहवें अध्यायमें लाला गोपाल बनते हैं, गायोंको चराने ले जाते हैं।

किसी-किसी अवसरपर बालकृष्ण वंशी भी बजाते थे और भिन्न-भिन्न प्रकारकी क्रीड़ाओंमें ग्वालवालोंको आनन्द प्रदान करते थे।

प्राणिमात्रको श्रीकृष्ण वंशीकी धुनमें डेरते हैं, परंतु मोहक विषयोंमें लित जीवको यह नाद सुनायी नहीं देता।

भक्तिके तटपर अर्थात् भक्तिमें दो विघ्न आते हैं—

(१) वत्सासुर—अज्ञान, अन्धश्रद्धा।

(२) वकासुर—दम्भ।

यमुनाजीका तट—भक्तिका तट

वगुलरूपी दम्भ आता है। यह वकासुर दम्भका प्रतीक है—उसी प्रकार, जैसे बहुत-से वगुला-भक्त बनते हैं।

भक्तिके तटपर ही दम्भ आता है। भक्तिमें किसीको ठगना मत। दम्भके समान कोई पाप नहीं है। अन्य पापोंका प्रायश्चित्त है; परंतु दम्भका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। जिसका स्वाँग ऊपरसे सुन्दर है, परंतु जिसकी करनी मलिन है, वही वकासुर है।

वगुलेकी चोंच है लोभ। जहाँ कीर्तिका मोह और धनका लोभ होता है, वहाँपर दम्भ आ जाता है।

यमुनातट—भक्तिके तटपर दम्भ आता है तो भक्ति विगड़ जाती है। प्रभुने वत्सासुर और वकासुरका वध किया। एक समय मनमोहन ग्वालवालोंके साथ बछड़े

चराते हुए वनमें आये । वे जंगलमें भिन्न-भिन्न प्रकारके खेल खेलने लगे ।

इन ग्वालवालोंके भाग्यका वर्णन कौन कर सकता है । जिसके दर्शन योगियोंको भी दुर्लभ हैं, वे उस परब्रह्मके साथ खेल रहे हैं । इतनेमें ही वहाँ अघासुर आया । अघासुरको कंसने भेजा था । वह पूतना और वकासुरका लघु भ्राता था ।

जहाँ अज्ञान एवं दम्भ होता है, वहाँपर पाप आता है ।

अघासुर विशाल अजगरका रूप धारण करके आया और समस्त ग्वालवालोंको निगलनेकी इच्छासे रास्तेमें पड़ गया । अघासुररूप अजगरके मुखको यह समझकर कि यह कोई पर्वतकी गुफा है, ग्वालवाल उसमें प्रवेश करनेको तैयार हुए । वे बोले—‘लाला कन्हैया ! यदि तू साथमें रहे तो फिर हमें कोई डर नहीं है ।’ आजकल लोग पैसेको साथमें रखते हैं—परन्तु परमात्माको नहीं । अकेले कहीं भी मत जाना । प्रभुको सङ्ग रखना अर्थात् प्रभुकी मूर्ति सङ्गमें रखकर घूमना—अजी नहीं, इससे तो प्रभुको भ्रम होगा । प्रभुके सान्निध्यका निरन्तर अनुभव करना । मनसे प्रभुका निरन्तर स्मरण करना । बालकोंको दृढ़ विश्वास है कि यदि कन्हैया हमारे साथ है तो फिर कोई हानि नहीं । कृष्णके मुखारविन्दको देखते हुए ग्वालवाल अजगरके मुँहमें ताली बजाते और हँसते हुए प्रवेश कर गये । ग्वालवालोंको बचानेके लिये कन्हैयाने भी अघासुरके मुँहमें प्रवेश किया ।

जब बालकोंने अघासुरके मुँहमें प्रवेश किया, तब वे ताली बजाते हुए गये थे । भागवतमें समाधि-भाषा प्रधान है, लौकिक गौण । तात्पर्य यह कि जिसे समाधिका अभ्यास है, वही भागवतका अर्थ समझ सकेगा । विलासीके लिये भागवतका अर्थ समझना कठिन है । ताली नाद-ब्रह्म है । नाद-ब्रह्म और नाग-ब्रह्म जब एक होते हैं, तब परब्रह्म प्रकट होते हैं ।

भीतर प्रवेश करके प्रभुने विशाल रूप धारण किया । अघासुरके प्राण छटपटाने लगे और ब्रह्मरन्ध्र-मार्गसे निकल गये । बालक तथा बछड़े बाहर आये ।

अघासुर अर्थात् पाप । अघासुर पापका स्वरूप है । जो पापमें या पापके साथ ही क्रीड़ा करता है, वह अघासुर है । पाप करनेमें जो सुखका अनुभव करे, वह अघासुर है । बहुत बार देखनेमें आता है कि पापी सुख भोग रहा है;

परन्तु तब ऐसा समझना चाहिये कि यह उसके किसी पूर्वजन्मके पुण्योंका फल है; क्योंकि पापका फल तो सदैव दुःख ही होता है । कोई पुण्यशील व्यक्ति यदि दुखी दिखायी दे तो समझना चाहिये कि यह भी उसके किसी पिछले जन्मके पापका फल भोग रहा है ।

अनेकों बार मनुष्यको ऐसा आभास होता है कि मैं पाप कर रहा हूँ; परन्तु वह पापको छोड़ नहीं सकता । पापके पंजेसे छूटना कठिन है । पापकी टेव बहुत खराब है । पापको मनमें घर मत करने देना । मनुष्य शरीरसे बढ़कर जीभसे पाप करता है । बहुत-से जीभसे बढ़कर आँखोंसे पाप करते हैं । आँखोंसे भी बढ़कर बहुत-से मनसे पाप करते हैं । जयतक इन्द्रियोंमें पाप करनेकी आदत है, तबतक उन्हें भक्ति-रस नहीं प्राप्त होगा । इन्द्रियोंमें भक्ति-रस भरना हो तो उन्हें निष्पाप करो । पानीसे भरे हुए लोटेमें दूध भरना चाहोगे तो पहले पानीको बाहर निकालना ही होगा ।

इन्द्रियोंसे आत्मा इतनी मिल जाती है कि वह इन्द्रियोंको पाप करती हुई देखती है, फिर भी उन्हें रोकती नहीं ।

जब मनमें पापका विचार उत्पन्न हो, तभी उसे उसी क्षण काट दो । जिसके अन्तरमें पाप आ गया, पाप उसे नहीं छोड़ेगा । कदाचित् पाप हो जाय तो प्रभुके सम्मुख रोने लगे कि ‘प्रभु ! मेरे पापोंको क्षमा करो ।’

अघासुर अजगरके रूपमें आया था । यदि मनुष्य सावधान न रहे तो पाप उसे निगल जाता है ।

परचर्चाके समान कोई पाप नहीं है । मनुष्य स्वयंको ही सुधारता है । अन्योका जीवन बिगाड़ रहा हो तो उसकी वह परवा नहीं करता । पापकी आदत एक बार पड़ जायगी तो वह फिर छूटेगी नहीं । मनुष्य पापपङ्कमेंसे नहीं छूटता । पाप शरीरमें प्रवेश कर गया तो फिर वह तुमको छोड़ेगा नहीं । जिस मनरूपी घरमें पाप है, उसमें परमात्मा नहीं पधारते ।

अजगरके मुखमें गये हुए ग्वालवाल स्वयं बाहर नहीं निकल सकते थे । श्रीकृष्ण उन्हें बाहर निकालते हैं । अजगरके मुँहमें गया हुआ कोई भी व्यक्ति स्वयं बाहर नहीं निकल सकता । अजगरके मुँहमें गये हुएको बाहरका व्यक्ति ही खींच सकता है । पापसे भगवान् ही बचा सकते हैं ।

पाप और साँप (सर्प) समान ही हैं । सर्प काटे तो तुरन्त ही सर्पके काटे हुए उस अङ्गको अथवा अँगुलीको काट डाला

जाय तो विष शरीरमें नहीं फैलता और प्राणरक्षा हो सकती है। इसी प्रकार पापका विचार उत्पन्न होते ही मनमेंसे उसे निकाल दिया जाय तो उस व्यक्तिको पापसे बचाया जा सकता है। यदि पाप थोड़े-से समयके लिये भी मनमें घर कर गया तो फिर उसे रोकना कठिन हो जायगा।

पापका विचार करनेसे पाप दृढ़ होता है। पाप पृथ्वीसे आकाशतक व्याप्त है; जिस प्रकार अवासुरका एक ओठ धरतीसे और दूसरा ओठ आकाशसे लगा हुआ था।

जो मनमें है, वह वनमें भी है। अर्थात् जहाँ भी जाओगे, वहाँ-वहाँ पाप करनेके अवसर आ ही जायेंगे।

वासनासे व्याप्त जीवको अन्तरात्मा मना करती है तो भी वह पाप करता है। बहुत-सी बार वासनाकी बाढ़में शान बह जाता है, तब पाप हो जाता है। पाप ललचानेवाला होता है। कभी पाप करनेका अवसर आ जाय और पाप किये बिना नहीं रहा जाय या पाप किये बिना छुटकारा ही न हो या उससे बचनेका उपाय ही न हो तो पाप करते समय भगवान्‌को साथ रखकर पाप करो। देखो, यहाँ अर्थका अनर्थ न करना। पाप करते समय भी भगवान्‌को याद रखो—उनका स्मरण करो और सम्भव है तब पाप तुमसे हो ही नहीं।

पापको काट डालोगे तो पापका नाश हो जायगा। पापको हृदयमें रखोगे तो उसका नाश नहीं होगा।

कोई भी क्रिया शब्दोच्चारणके बिना नहीं होती। शब्दोच्चारण भले ही जीभसे न हो, पर मनसे तो होता ही है। जिस क्षण उसका शब्दोच्चारण हो, उसी क्षण उसे काट डालो, मनसे हटा दो।

संत निरन्तर प्रभुके नामका उच्चारण करते हैं, इसलिये उनसे पाप नहीं होता। अवासुरके पेटमें गये ही बिना रहा न जाय, तो जाओ। पर जाओ ताली बजाते हुए। प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि असत्य बोलना पाप है, किसीका हृदय दुखाना पाप है; फिर भी पाप हो जाता है। प्रथम सिद्धान्त मुख्य है। पापको काट ही डालना चाहिये। जब ऐसा प्रतीत हो कि तुम्हारा मन तुम्हारे हाथसे निकला जा रहा है और मन तथा शरीरसे भी पाप होने-वाला ही है, तब भगवन्नामका कीर्तन करो। जो परमात्माको साथ रखकर पाप करता है, उसकी पापवासना छूट जाती है। पापकी टेव छुड़ानेका यही एक उपाय है। भगवान्‌से

प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे नाथ ! मेरी इस पाप-वासनाका विनाश करो।' बालक ताली बजाते हुए अर्थात् कीर्तन करते हुए अवासुरके मुँहमें गये थे। पाप यदि करो ही, तब परमात्माको साथ रखो। भगवान्‌से कहो, मैंने पाप किया है; परंतु हे 'प्रभु, साथमें तुम भी थे, अतः दण्ड दो और क्षमा भी कर दो।'।

मनुष्यको ज्ञान हो जाता है कि 'मैं कामी हूँ, क्रोधी हूँ।' जो समझकर पाप करता है, वह अवासुर है। जो पापमें सुख मानता है, पापमें क्रीड़ा करता है, वह अवासुर है।

भोगे बिना जिसका नाश नहीं होता, वह पाप है। पुण्यका नाश भोगे बिना हो सकता है। पुण्य भोगनेके लिये भी जन्म लेना पड़ता है। इसीलिये तो ऋषियोंको पुण्यको भी कृष्णार्पण करना पड़ता है। पुण्य कृष्णार्पण हो सकता है, किंतु पापको तो भोगे बिना छुटकारा नहीं है।

प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।

किसी संत पुरुषकी कृपा हो, तभी पापकी वासना छूटती है।

अन्तरात्माकी पाप करनेकी आकाङ्क्षा न होते हुए भी पाप हो जाता है। गीतामें भी अर्जुनका इस विषयमें प्रश्न है। यह सनातन प्रश्न है। भगवान्‌से वह पूछता है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।

अनिच्छन्नपि वाण्येय बलादिव नियोजितः॥

(३।३६)

मनुष्यकी इच्छा न होते हुए भी वह किसके द्वारा पापमें प्रवृत्त होता है और पाप करता है ? पाप करनेकी आकाङ्क्षा न होते हुए भी क्यों पाप करना पड़ता है ?

भगवान्‌ समझाते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। (३।३७)

रजोगुणसे उत्पन्न हुए काम और क्रोध पुरुषोंके महान् शत्रु हैं। वे ही उन्हें पाप करनेकी ओर घसीट ले जाते हैं।

अतएव सत्त्वगुणको बढ़ाकर रजोगुणको कम करो।

ताली बजाते हुए ब्रजवासी गोपगण पहले नादब्रह्ममें लीन हो जाते हैं और फिर उनका मन परब्रह्ममें लीन होता है। इसलिये पापसे बचनेके लिये पहले कीर्तन करो और फिर भगवान्‌में लीन होनेके लिये उन्हें अपने मनमें पधराओ। फिर जैसे गोपगणोंकी भगवान्‌से रक्षा की थी, वैसे ही तुम्हें भी वे पापसे बचा लेंगे। सत्त्वगुण बढ़ानेका यह निश्चित मार्ग है। तुम विदवास करो।

(अनुवादक—श्रीबालकृष्ण चतुर्वेदी)

मांसाहारसे हानि

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

यदि अहिंसा, धर्म तथा दयाकी बात कही जाय तो हमारे बहुत-से नये पढ़े-लिखे लोग उदाहरणपर-उदाहरण पेश करेंगे कि 'प्राचीन कालमें हमारे पूर्वज मांसाहारी थे। मांस खाना धर्मके प्रतिफल आचरण नहीं है।' क्या होता था, क्या नहीं और कौन-सा इतिहास सही है, इसके ऊहापोहमें न पड़कर हम विचारें कि जिनकी मियाल पेश करते हैं, उनका कौन-सा गुण हमारेमें है। हर युगकी परिस्थिति और उसकी आवश्यकता भी भिन्न होती है। हर युगमें मनुष्यकी पाचन-शक्ति तथा शरीरकी भीतरी शक्तिमें भी अन्तर है।

किंतु आजका मनुष्य शाल, धर्म या दयाका सहारा छोड़ चुका है। जब वह चन्द्रमातक जा पहुँचा, तब उसे हर चीजका वैज्ञानिक निरूपण करना उचित प्रतीत होता है। वह तोलना चाहता है प्रत्येक वस्तुको विज्ञानके तराजूपर—चाहे वह भोजन हो अथवा रहन-सहन।

पर विज्ञान भी अब मांसाहारको खतरनाक समझने लगा है। उसे पता चला है कि कृत्रिम ढंगसे 'व्यूकोसिस' (मुर्गी पालन-क्षेत्र) में पाली गयी मुर्गीको 'ल्यूकोसिस' नामकी बीमारी हो जाती है। संयुक्त राज्य, अमेरिकामें तथा भारतमें ही नहीं, हर देशमें नकली आँच देकर अंडेको सेते हैं। बच्चा पैदा होते ही उसे मोटा और स्वादिष्ट बनानेके लिये तरह-तरहके रसायनों तथा मांस और रक्तपर पाला जाता है। पानीकी जगह उसे खून पिलाया जाता है। ऐसा भोजन पाकर ये मुर्गियाँ साधारण पक्षी नहीं रह जातीं। वे खूँखार, क्रोधी एवं मांसाहारी बनकर आपसमें एक दूसरेको खाने लगती हैं। अतएव ऐसी करोड़ों मुर्गियोंकी आँखपर पट्टी बाँधनी होती है या उनकी चोंच काट दी जाती है। इन्हें 'ल्यूकोसिस' नामक बीमारी हो जाती है। डा० मैक्नायरके कथनानुसार संयुक्त राज्य, अमेरिकामें ३ करोड़ ७० लाख मुर्गियाँ इस बीमारीकी शिकार हो जाती हैं। अब विज्ञान पता लगा रहा है कि ऊपरसे देखनेमें स्वस्थ, पर भीतरमें रोगी मुर्गी खानेसे कितने करोड़ लोगोंका स्वास्थ्य गिर रहा है तथा भीतरी बीमारी, विशेषकर अंतर्द्वियोंका रोग पैदा हो रहा है। अन्ताराष्ट्रिय रिपोर्टके अनुसार संसारमें प्राप्त मुर्गियोंका ९० प्रतिशत 'ल्यूकोसिस' नामक बीमारीका शिकार है और इनका रोग

खानेवालोंको हो रहा है। इस रोगका फल काफी देरमें प्रकट होता है।

रोगी भोजन

हर एक व्यापारी जो मांस बेचनेका व्यापार करता है, चाहता है कि बलिदानका बकरा तगड़ा रहे। मांस वजनमें भारी पड़े तो पैसा ज्यादा मिले। इस कामके लिये आजके विज्ञानसे सहायता मिल रही है। कौन-सा रसायन लगानेसे मांस फूल जाय या कौन रसायन खिलानेसे जानवर तगड़ा हो—इसे मामूलीसे मामूली कसाई जानता है। पर ऐसे मांसका भोजन करनेवालोंपर क्या प्रभाव पड़ रहा है? संयुक्त राज्य, अमेरिकामें विकनेवाले मांसकी परीक्षाके लिये सरकारी इंस्पेक्टर नियुक्त हैं। सरकारी रिपोर्टके अनुसार सन् १९६८-६९ में उनके द्वारा 'स्वीडित' मुर्दे पशुओंमेंसे ३ करोड़, १ लाख पशु वास्तवमें भीतरी रोगसे पीड़ित थे। रसायनोंने उन्हें रोगी और अभोज्य बना दिया था।

'नैशनल आवजर्वर' ने मई ६, १९६८ के अपने अङ्कमें लिखा था, 'जिन लोगोंको मांस खाना ही हो उन्हें ध्यान रखना चाहिये कि वे रोगी मांस खा रहे हैं। उन्हें बहुत सावधान रहना चाहिये।' डा० मैक्नायर लिखते हैं—'चूँकि सरकारी इंस्पेक्टरने गोश्तको सर्टीफिकेट दे दिया है, इसलिये यह नहीं समझना चाहिये कि उसे खानेमें कोई डर नहीं है।'।

जब इतने बड़े वैज्ञानिक प्रगतिवाले देशमें, जहाँ कसाई-वाड़ेसे लेकर मांसकी दूकानतक पूर्ण छानबीन होती है तथा स्वच्छता आदिका पूरा प्रबन्ध है, वहाँकी हालत यह है, तब भारत-ऐसे देशमें—जहाँ ऐसे कार्यमें हर तरफ गंदगी है—क्या स्थिति होगी। नेवादा विश्वविद्यालयके डा० ड्रेकने 'डोवर्स जर्नल'के २४ फरवरी १९७० के अङ्कमें लिखा है कि 'आज जो भी मांस हम खा रहे हैं, वह अनेक रोग पैदा करता है।'।

नकली गर्भाधान

टैक्सस विश्वविद्यालयके डा० पोपने प्रमाण देकर साबित किया है कि गाय या भेड़से जल्दी-जल्दी बच्चा पैदा कराकर उससे लाभ उठानेके जितने तरीके हैं, सब हानिकारक हैं। नकली गर्भाधानसे जानवरोंकी भीतरी शक्ति समाप्त हो जाती

है। संतानके प्रति स्वामाविक प्रेम नहीं रहता। पेटके भीतर ऐसा दूषित रसायन पैदा होता है कि धीरे-धीरे दूध भी मिलना बंद हो जाता है। पशुमें प्राकृतिक उत्तेजना बनी रहती है। रोगी संतान पैदा होती है। दूधमें एक प्रकारका रक्तिम विष मिल जाता है। लन्दनके ‘संडे टाइम्स’ (८ सितम्बर, १९६८) के अनुसार पशुका गर्भाधान आधुनिक सम्यक्ताका घोर अत्याचार है। डा० पोप लिखते हैं कि ऐसे पशुओंका मांसके लिये जितना अधिक उपयोग हो रहा है, उतना ही मानवका स्वास्थ्य गिर रहा है।

दूध बढ़ानेके लिये रासायनिक खाद्य तथा भोजनसे भी बड़ी हानि हो रही है। इस भोजनमें संखियाकी मात्रा भी रहती है, जो मुर्गी या अन्य मांसके द्वारा खानेवालेके पेटमें जाती है। आर्बन विश्वविद्यालयकी खोज है कि रासायनिक खाद्य तथा भोजनपर पाले हुए पशुओंका भोजन तरह-तरहकी बीमारी पैदा कर रहा है। नये दंगके भोजनसे पशु-पालनका खर्च ५० प्रतिशत कम करके हम १०० प्रतिशत रोगका आवाहन कर रहे हैं। ‘डोवर्स जर्नल’ने २२ मई १९६९ के अपने अङ्कमें लिखा है कि ‘पशुके पेटमें इन रसायनोंका प्रभाव बुरा पड़ता है।’ फ्रांसिस टी० कैंडिलिनका मत है कि ‘ये दवाएँ जो हम जानवरोंके पेटमें पहुँचा रहे हैं, उनके द्वारा सामूहिक दुर्घटनाका वातावरण पैदा होता जा रहा है। हम आजकल रहीं, पुराने अखबार भी पीसकर जानवरोंको खिला रहे हैं। क्या कागजका चूरा खाकर जो दूध मिलेगा, वंह हमें स्वस्थ कर देगा?’

गोमांसका फल

संसारमें सबसे अधिक गोमांसका प्रचलन है। केवल इंग्लैंडमें प्रतिवर्ष प्रत्येक व्यक्ति औसतन १३० सेर गोमांस तथा

मुर्गीका मांस खा जाता है। गायके बछड़ेको मांसके लिये तगड़ा बनानेके लिये पैदा होते ही माँसे अलग कर एक बड़े हौदके कठघरेमें रख देते हैं। वहाँ हौदकी नलीसे उसे रासायनिक दूध पिलाते हैं। ६ से ८ हफ्तेतक ऐसी मशीनी मातासे पोषण कराकर उसे सूई लगायी जाती है। फिर वह १०००—१५०० मील दूरतक जहाजोंमें भरकर भेजा जाता है। नये स्थानपर पहुँचकर उसे बधिया किया जाता है, दागा जाता है। सींग काट दिये जाते हैं। यह सब काम ३ मिनटमें मशीन कर देती है। फिर उसे एक निश्चित वजनका बनानेके लिये रसायनका भोजन दिया जाता है। गोमांसके कारखानोंमें १०,००० से १००,००० लाख तक पशु रखे जाते हैं। ‘स्टीलवेस्ट्रोल’ नामक दवा इन्हें सूईसे तथा मुँहसे दी जाती है और अब विज्ञानको यह देखकर बड़ी पीड़ा हो रही है कि ऐसे तगड़े बछड़ोंके पेटमें कैंसरका भयानक रोग पैदा हो जाता है। जज लूथर एम० स्विगर्थने अपने एक फैसलेमें लिखा है कि ‘ऐसे ९० प्रतिशत बछड़ोंको कैंसरका होना सिद्ध है। अतएव विदेशोंमें गोमांसके विरुद्ध प्रतिक्रिया शुरू हो गयी है। गोमांस खानेवालोंको कैंसरका रोग बहुत होने लगा है।’

डा० जान एन० एस० ह्वाइटने सलाह दी है कि ‘आजके युगमें मांसाहारसे अनेक रोग पैदा हो रहे हैं।’ हम भारतमें गंदा, सड़ा भोजन तो बुरा समझते हैं, पर उससे भी गंदी चीज मांसके खानेमें हमें हिचक नहीं होती। इससे कैंसर, अंतर्द्वियोंका सड़ना तथा अनेक स्नायविक रोग पैदा होते हैं। जो लोग धर्मकी बात नहीं मानते, शायद वे विज्ञानकी बात मानकर मांसाहार छोड़ दें।

‘जौं हम भले-बुरे तौ तेरे।’

जौं हम भले-बुरे तौ तेरे।

तुम्हें हमारी लाज-बड़ाई, विनती सुनि प्रभु मेरे ॥

सब तजि तुम सरनागत आयौ, दड़ करि चरन गहे रे।

तुम प्रताप बल बढ़त न काहू, निडर भय घर चरे ॥

और देव सब रंक-भिखारी, त्यागे, बहुत अनेरे।

सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा तें, पाप सुख जु घनेरे ॥

—श्रीसूरदासजी

अविद्या (माया) का स्वरूप.

(लेखक—पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र, काव्य-न्याकरण-सांख्य-स्मृति-सौध)

कठोपनिषद्के प्रथम अध्यायकी द्वितीय वल्लीके चतुर्थ मन्त्रमें लिखा है—

दूरमेते विपरीते विपूची
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।

विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये

न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥

यम और नचिकेताके संवादमें नचिकेताकी परीक्षा लेते हुए यमने कहा है कि 'विद्या और अविद्या—ये दोनों अत्यन्त विरुद्ध फल देनेवाली हैं। मैं तुझ नचिकेताको विद्याका अभिलाषी समझता हूँ; क्योंकि सांसारिक अनेक भोगोंको दिखलानेपर भी तुम्हारा मन उन भोगोंमें आसक्त नहीं हुआ।' अनित्य सांसारिक भोगोंमें अविद्या (अज्ञान) के कारण नित्यत्व बुद्धि होनेसे आसक्ति होती है और आसक्ति ही बन्धन अर्थात् जगत्में आवागमनका कारण है।

इसी बातको पञ्चम मन्त्रमें कहते हैं—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः

स्वयं धीराः पण्डितस्मन्यमानाः ।

दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा

अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

अर्थात् 'जो अविद्या (अज्ञान) में पड़े हुए हैं एवं अपनेको ज्ञानी तथा पण्डित समझते हैं, वे मूर्ख (अज्ञानी) अंधे मनुष्यके नेत्रत्वमें अंधा मनुष्य जैसे अनेक कण्टकादि-पूर्ण रास्तेमें भटकता रहता है; उसी तरह अनेक टेढ़े-मेढ़े रास्तोंमें अर्थात् अनेक बुरी योनियोंमें भटकते रहते हैं, अर्थात् उनको ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती।'।

इसी बातको श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने इस रूपमें कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

(७ । १४)

यह अविद्या (माया) तबतक मनुष्यको नहीं छोड़ती, जबतक वह भगवान्की शरणमें सर्वात्मना अपनेको नहीं ले जाता; क्योंकि भगवान्ने इस मायाको अपनी 'दैवी माया'

कहा है, इसलिये शरणागतवत्सल भगवान् अपना ज्ञान कराकर उसे इस दुःखालय जगत्के चक्रसे छुड़ा देते हैं ।

जबतक यहाँके स्त्री-पुत्र-धन आदिसे मिथ्या सुखकी प्रतीतिके कारण वैराग्य नहीं होता, तबतक ब्रह्म-प्राप्तिके सुखका अनुभव नहीं होता ।

नचिकेता यमसे ब्रह्मविद्या जानना चाहता था; परंतु यमराजने अनेक तरहसे उसकी परीक्षा ली और जबतक ब्रह्मविद्याका उपदेश ग्रहण करनेकी योग्यताके विषयमें उनको निश्चय नहीं हुआ, तबतक उन्होंने उसको ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं दिया; क्योंकि अयोग्य शिष्यको शिक्षा देनेसे वह मरुप्रदेशमें बोये हुए अन्नके बीजोंकी तरह नष्ट हो जाती है । इसलिये 'शिक्षा'में लिखा भी है—

विद्या विद्वांसमेत्याह शेषध्विस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।

असूयकाय मां मा दा यथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥

अर्थात् 'विद्या विद्वान्के पास जाकर कहती है कि मैं तुम्हारी निधि हूँ; तुम मेरी रक्षा करो । मेरी निन्दा करनेवाले एवं अपमान करनेवाले अर्थात् श्रद्धारहित मनुष्यको मुझे न दो । तात्पर्य यह है कि जो श्रद्धालु न हो, नास्तिक हो, उसको देनेसे मेरी शक्ति कम हो जायगी और योग्य श्रद्धालु व्यक्तिको देनेसे मेरा बल-पराक्रम बढ़ेगा ।'

यही कारण है कि इस समय गीता आदिकी शिक्षा विद्यालयोंमें दी जाती है तथा प्रायः जनसाधारणमें भी बड़े-बड़े महात्मायोग वेदान्तके गूढ़ तत्त्वोंका उपदेश करते हैं; परंतु, एक तो मन्दबुद्धिताके कारण वह ग्रहण नहीं हो पाता, दूसरे श्रद्धान होनेसे लोग उसे सुनते भी उपेक्षा बुद्धिसे हैं । हम अपने बालकको जैसा बनाना चाहते हैं, वैसे वातावरणमें बालकको रखना चाहिये । अज्ञानतावश अनुचित काम करनेसे थोड़ा लाभ प्रतीत होने लगता है, तब हम अपने बालकको वैसा करनेके लिये उत्साहित करते हैं और जब उस अनुचित कार्यका दुष्परिणाम होता है, तब हम दुःख भोगते हैं ।

विद्या प्राप्त करनेके विषयमें लिखा है—'वही बालक विद्या प्राप्त करता है, जो जनसमूहसे अर्थात् जहाँ मनुष्य बैठकर

व्यर्थकी गप-शप करते हैं, ऐसे वातावरणसे साँपकी तरह डरकर दूर रहे, जीभपर अपना प्रभुत्व रखे अर्थात् बुद्धिको भ्रष्ट करनेवाले पदार्थोंको न खाय, स्त्रियोंके संसर्गको राक्षसियोंका संसर्ग समझकर उससे दूर रहे ।'

यथा—

अहेरिव जनाङ्गीतो मिथ्यन्नात् सविपादिव ।

राक्षसीभ्य इव स्त्रीभ्यः स विद्यामधिगच्छति ॥

आधुनिक भौतिक युगमें देह-संस्कारके अनेक पदार्थ उपलब्ध होते हैं, परंतु आत्मसंस्कारकी ओर उपेक्षा हो गयी है, जिससे शिक्षित वर्गमें भी अनीतिकी प्रवृत्ति हो गयी है । आजकल प्रत्येक विषयको लोग तर्ककी कसौटीपर कसते हैं । परंतु जो विषय तर्कसे परे हैं, उनकी परीक्षा तर्कसे कैसे हो सकती है । यमने नचिकेताको इसलिये कहा था—

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।

यां त्वमापः सत्यवृत्तिर्बतासि
त्वादङ्गो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥

(कठ० १ । २ । ९)

अर्थात् 'यह जो मति तुमको अमेददर्शी आचार्योंसे प्राप्त है, उसका शुष्क तर्कके द्वारा परिहार नहीं किया जा सकता; क्योंकि हे प्रियतम ! आचार्योंने तुमको अच्छे ज्ञानके लिये उपदेश दिया है । जिस बुद्धिको तुमने मेरे वर-प्रदानके द्वारा प्राप्त किया है, उसके कारण तू सत्यवृत्ति है । अर्थात् सत्यके ऊपर तुम्हारी निष्ठा है । हे नचिकेता ! तुम्हारे-जैसा सत्यनिष्ठ प्रश्नकर्ता अर्थात् जिज्ञासु मुझे प्राप्त हो ।'

अध्यात्म-विषयमें तार्किकोंका तर्क प्रमाण नहीं होता; क्योंकि दर्शनशास्त्रका सिद्धान्त है—'तर्काप्रतिष्ठानात्' तर्ककी कहीं निश्चित स्थिति नहीं है ।

आत्मसंस्कारके लिये श्रद्धापूर्वक अध्यात्म-विषयका अध्ययन करना चाहिये । संस्कृत आत्मामें ही गूढ़ विषय प्रतिफलित होते हैं । जैसे मलिन दर्पणमें प्रतिविम्ब स्वच्छ और सुन्दर नहीं होता, उसी तरह मलिन बुद्धिमें अध्यात्म-विषयके उपदेश प्रतिविम्बित नहीं होते । आचार-हीन पुरुषके मन और बुद्धि मलिन होते हैं । आचारहीन मनुष्य अपने कर्तव्यको नहीं समझता । इसीलिये महाभारतके अनुशासनपर्वमें लिखा है—

आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ।

ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः ॥

'आचारसे ही धर्म उत्पन्न होता है अर्थात् आचरण शुद्ध होनेसे धर्म (कर्तव्य) का ज्ञान होता है; क्योंकि भगवान् स्वयं धर्मके प्रभु हैं और सब ऋषिगण, पितृ-गण, देवगण और पञ्चभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन सबकी स्थिति धर्मपर ही निर्भर करती है ।' इस युगमें बालकोंके आचारपर ध्यान नहीं दिया जाता, जिससे विनाशी और आपातरमणीय राजसिक सुखको ही परम पुरुषार्थ समझकर बालक इस ओर आकृष्ट हो जाते हैं । भौतिक उन्नतिको ही ध्येय बना लेनेसे वास्तविक मनुष्यजन्मको सफल बनानेवाली उन्नतिकी ओर ध्यान नहीं जाता ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने इसीको आसुरी सम्पत्ति कहा है । यथा—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

(७ । १५)

आसुरी सम्पदावाले मनुष्य दुष्कृति और मूढ अर्थात् अज्ञानी होते हैं; क्योंकि मायासे उनका ज्ञान अपहृत हो जाता है । अनित्य वस्तुमें नित्यबुद्धि, अशुचि पदार्थोंमें शुचिबुद्धि, मृत्युमें अमरत्वज्ञान, दुःखमें सुखका ज्ञान अर्थात् विपरीत ज्ञानका ही नाम अविद्या, अज्ञान अथवा माया है । जबतक मनुष्य अविद्यासे उत्पन्न मृत्युको विद्याज्ञानके द्वारा जीत नहीं लेता, तबतक जीवको शान्ति नहीं मिलती । अतः ईशावास्योपनिषद्के ११ वें मन्त्रमें लिखा है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।

अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायामृतमश्नुते ॥

अतः मनुष्यको विद्या और अविद्या—दोनोंके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । इन दोनों विषयोंके ज्ञानके लिये तत्त्वज्ञानी महात्माओंकी शरणमें जाना चाहिये और श्रद्धाके साथ, विनयपूर्वक प्रश्न करनेपर वे तत्त्वज्ञानी महात्मागण तत्त्वज्ञानका उपदेश करते हैं । इस विषयमें दो बातोंपर मनुष्यको अवश्य ध्यान रखना चाहिये । एक तो महात्मापर श्रद्धा, दूसरी विनय । जबतक ये दो बातें विद्यार्थीमें नहीं आतीं, तबतक न गुण उपदेश ही देते हैं और न उपदेशका फल ही प्राप्त होता है । अतः अर्जुनसे भगवान्ने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रद्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

(गीता ४ । ३४)

यही कारण है कि छात्रोंमें शिक्षकपर श्रद्धा-भक्ति एवं विनय न रहनेसे न तो शिक्षक शिक्षा ही देते हैं, न छात्र वास्तविक शिक्षाका फल ही प्राप्त करते हैं ।

कहनेका तात्पर्य यह है कि जो न होकर भी सत्यकी तरह प्रतीत हो वही माया है, अज्ञान है और इसने अपने पदोंमें सत्य वस्तु जो नित्य सर्वत्र वर्तमान है, उसको छिपा रखा है । भगवान् ने इसीलिये इसको अपनी 'दैवी माया' कहा है । यह इतनी प्रबल है कि भगवान् के सिवा इसको कोई हटा नहीं सकता । मार्कण्डेयपुराणके अन्तर्गत दुर्गा-सप्तशतीमें लिखा है कि 'यह जो भगवत्प्राप्त पुरुष हैं, उनके चित्तको भी कभी बलपूर्वक अपनी ओर आकृष्ट करके मोह (अज्ञान) में डाल देती है ।'

यथा—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।

बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥
जैसे श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजीको मोह हो गया ।

यथा—

एवं सम्मोहयन् विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम् ।
स्वयैव माययाजोऽपि स्वयमेव विमोहितः ॥

(१० । १३ । ४४)

स्वयं ब्रह्माजीको भी मायाने ऐसा मोहित किया कि वे मायापति भगवान् विष्णुको मोहित करनेको उद्यत हुए और स्वयं ही मोहित हो गये । अन्तमें जब उन्होंने विष्णुकी शरण ली, तब उनकी माया दूर हुई । अतः 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्' रूप इस संसारसे मुक्ति पानेके लिये भगवान् की शरणमें जाना एकमात्र उपाय है । अतः—'मामनुस्मर युष्य च' इस भगवदाज्ञानुसार आसक्तिरहित भगवदर्पणबुद्धिसे परिवार-पालन आदि सांसारिक कार्योंको करते हुए मनुष्य भगवत्कृपासे परम शान्तिको प्राप्त कर सकता है, यही मनुष्य-जीवनका सर्वोत्तम फल है ।

सर्प-दंशके उपचार

(लेखक—पं० श्रीगोपालजी द्विवेदी, वैद्य)

वेदों एवं पुराणोंमें सर्पकी पर्याप्त चर्चा है । अथर्ववेदकी एक श्रुति है—

मा नो देवा अहिर्वधीत् सतोऽकान्तसहपुरुषान् ।

संयतं न विप्परद् व्याचं न सं यमन्नमो देवजनेभ्यः ॥

नमोऽस्त्वसिताय नमस्तिरश्चिराजये ।

स्वजाय बभ्रवे नमो नमो देवजनेभ्यः ॥

सं ते हन्मि दत्ता दत्तः समु ते हन्वा हनू ।

सं ते जिह्या जिहां सम्वास्ना ह आस्यम् ॥

(सू० ५६ का० ६ श्लोक—१—३)

हे विषशमनकर्ता देवगण ! सर्प हमारी तथा हमारे पुत्र-पौत्र-भृत्यादिकी हिंसा न करने पाये । सर्पका मुख दंशके निमित्त न खुले और खुला मन्त्रशक्तिये यथावत् रहे । सर्पादिके विषके शमनकर्ता देवताओंको नमस्कार है । तिरछे बलवाले तिरश्चिराज, कृष्णवर्ण अस्ति और बभ्रवर्णके स्वज नामक सर्पोंको नमस्कार और इनको

वशमें रखनेवाले देवताओंको भी नमस्कार है । हे सर्प ! तेरी ऊपर-नीचेकी दन्त-पङ्क्तियोंको हिलता-मिलता हुआ, ठोड़ीके ऊपर नीचेके भागोंको सीता हूँ, तेरी जीभसे जीभ मिलाकर ऊपरके मुखभागको नीचेके भागसे मिलाता हूँ और अनेक साँपोंके फनोंको एक साथ बाँध देता हूँ ।

साँपका नाम सुनकर ही मनमें भय उत्पन्न हो जाता है । आँकड़ोंके अनुसार एक सौ व्यक्ति सर्प-दंशसे रोज मर जाते हैं । साँपोंकी जातियाँ, किस्में और जन्म-परम्परापर अभी भी खोज जारी है, किंतु इतना तो सही है कि साधारण सर्पोंकी अपेक्षा विषधरोंकी संख्या इस पृथ्वी-पर कम है ।

साँप शीतरक्तपृष्ठवंशी जन्तु है । इसके शरीर, सिर तथा पूँछ—तीन भाग होते हैं । सर्पोंके पाँव नहीं होते (पर पुराणोंमें २२० पैरोंका वर्णन मिलता है) । उसकी आँखें एक पारदर्शक झिल्लीसे आवृत रहती हैं । कान नहीं होते । सुनने और देखने—दोनोंका काम आँखें ही करती हैं ।

कानोंका काम भी आँखोंसे ही लेनेके कारण उसका एक नाम 'चक्षुःश्रवा' भी कहा गया है। उसके तलवमें विषकी थैली होती है। उसका बच्चा महीनोतक हवा पीकर अपना जीवन धारण करता है। इसीसे इन्हें पवनाशनकी संज्ञा दी गयी है। ज्येष्ठ और आपाद मासमें साँपको मद होता है और तभी वह मैथुन करता है। वर्षा ऋतुके ४ मास बाद सर्पिणी गर्भ धारण करती है और कार्तिकमें २४० अंडे देती है। अंडा देनेके बाद स्वतः वह अपने अंडोंको खाना प्रारम्भ कर देती है। अन्तमें दयासे कुछ छोड़ देती है। उनमेंसे जो सोनेकी तरह चमकता हो, उससे पुरुष, ककड़ीकी तरह हरी और लंबी रेखाओंसे युक्त जो अंडा हो, उससे स्त्री और सिरिसके फूलके-से रंगवाले अंडोंमें नपुंसक साँप होते हैं। अंडेसे निकलनेके बाद-से ही वह बच्चा अपनी माँसे बहुत स्नेह करने लगता है। अंडेसे निकलनेके सात दिन बाद उसका रंग काला हो जाता है। सात दिनोंमें ही उसके दाढ़ें उग आती हैं। २१ दिनोंमें उसके अंदर विष हो जाता है और २५ दिनोंमें वह बच्चा प्राण लेनेमें समर्थ हो जाता है। ६ मासके बाद वह केंचुल छोड़ता है। अकालमें जन्मे साँपमें विष कम होता है। अनिश्चित समयमें जन्मे साँपकी आयु भी करीब ७० वर्षकी होती है। वैसे इनकी आयु १२० वर्ष है। इनकी मृत्यु ८ तरहसे होती है—मोर, वृद्धिक, मनुष्य, चक्रोर, विल्ली, नेवले और सूअरके मारनेसे तथा गाय-भैंसके खुरसे दब जानेपर। यदि उपर्युक्त किसी कारणसे उसकी मृत्यु नहीं हुई तो वह १२० वर्षोंतक जीता है। जिसके दाँत लाल, पीले अथवा नीले और विषका वेग मन्द हो, वह अल्पायु और डरपोक होता है। इसी प्रकार साँप आठ कारणोंसे काटता है—दब जानेसे, पूर्वके वैरसे, डरसे, मदसे, भूखसे, विषके वेगसे, संतानकी रक्षाके लिये और कालकी प्रेरणासे। साँपके १ मुँह, २ जीभें, ३२ दाँत और विषसे भरे ४ दाढ़ें होती हैं।

साँपकी दाढ़में सतत विष नहीं रहता। विषका स्थान दाहिनी आँखके समीप होता है। साँप जब क्रोधित होता है, तब विष नाड़ीद्वारा दाढ़में चला आता है। इनमें चार वर्ण होते हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

विश्वमें साँपोंकी १७०० जातियाँ पायी जाती हैं। उनमेंसे भारतवर्षमें ३०० जातियोंके साँप पाये जाते हैं।

आयुर्वेदमें भोगी, मण्डली और राजिल—ये तीन प्रकारके साँप बताये गये हैं।

भविष्यपुराणमें कश्यप मुनिने गौतम ऋषिसे काल-सर्पके द्वारा डँसे गये पुरुषके लक्षण इस प्रकार बताये हैं। जिसको काला सर्प डँस ले, उसकी जीभ भंग हो जाती है, हृदयमें पीड़ा होती है, आँखसे नहीं सूझता, दाँत और शरीर काले हो जाते हैं, मल-मूत्र निकल जाते हैं, गर्दन-कमर टूट जाती हैं, मुँह नीचे झुक जाता है, आँख ऊपर चढ़ जाती है, शरीरमें दाह और कम्पन होने लगता है, शस्त्रसे काटनेपर भी शरीरसे रक्त नहीं निकलता, वेंटसे मारनेपर निशान नहीं पड़ता और काटा हुआ स्थान पके जामुनकी तरह नीलवर्ण, फूला-फूला—रक्तसे भरा और क्रोविके पैरकी तरह हो जाता है, हिचकी आती है, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है, श्वासगति बढ़ जाती है, शरीरकी चमड़ी पीली हो जाती है। पसीना अधिक आता है, साँपका डँसा हुआ व्यक्ति नाकसे बोलने लगता है, उसका ओठ लटक जाता है, हड्डीमें दर्द होता है। और हृदय काँपता है, दर्पण या पानीमें प्रतिबिम्ब नहीं दीखता है, सूर्य तेजहीन लगता है, आँखें लाल हो जाती हैं और पीडासे सम्पूर्ण शरीर काँपता है। ऐसा व्यक्ति शायद ही बच सके। शास्त्रोंके अनुसार अष्टमी, नवमी, कृष्ण चतुर्दशी और नागपञ्चमीके दिन साँप काट ले तो उस रोगीके बचनेमें संदेह रहता है। आर्द्रा, अश्लेषा, मघा, भरणी, कृत्तिका, विशाखा, तीनों पूर्वा, मूल, स्वाती और शतभिषा नक्षत्रमें साँपके काटनेसे रोगी प्रायः नहीं बचता। पीपलके पेड़के नीचे, देवालय, श्मशान और बाँमीके पास, ध्या समय, चौराहेपर, भरणी नक्षत्रमें तथा सिर और मर्म-स्थानोंपर जिन व्यक्तियोंको साँप काट ले, उनके लिये तथा अजीर्ण, पित्त और धूपसे पीड़ित व्यक्ति, बालक, वृद्ध और क्षत अथवा क्षुधासे पीड़ित, कुण्ठी, रुक्ष तथा निर्बल व्यक्ति एवं गर्भवती स्त्रीके लिये सर्पविष असाध्य होता है।

साँप दिनमें, सर्पिणी रातमें और नपुंसक सर्प संध्या-कालमें विशेष विष युक्त होते हैं। विषके प्रथम वेगमें रोमाञ्च होता है, दूसरे वेगमें पसीना और तीसरेमें शरीर काँपने लगता है। चौथेमें खेतोंका अवरोध होने लगता है। पाँचवें वेगमें हिचकी चलती है, छठेमें गर्दन झुक जाती है और सातवें वेगमें रोगीका प्राण निकल जाता है।

आँखके सामने अँधेरा हो जाय और साँपका काटा हुआ व्यक्ति खड़ा न रह सके तो समझना चाहिये कि विष उसकी त्वचामें है। उस समय अकवचकी जड़, चिचड़ी, तगर और प्रियङ्गुको पानीमें घोटकर पिलानेसे विषका प्रकोप शान्त हो जाता है।

जय त्वचासे विष रक्तमें चला जाता है, तब शरीरमें जलन और मूर्च्छा होती है, ठंडी चीज अच्छी नहीं लगती। उस अवस्थामें उशीर, चन्दन, कूट, तगर, नीलोफर, सिनुआरकी जड़, धतूरेकी जड़, हिंग और मिर्च पीसकर पिलाना चाहिये। यदि इससे भी विष शान्त न हो तो कटेरी, इन्द्रायणकी जड़, सर्पगन्धा और वृश्चिककाली—इन सबको घृतमें पीसकर दे। यदि इससे भी विष शान्त न हो तो सिनुआर और हिंगका नस्य दे, वही पिलाये और उसीका अञ्जन एवं लेप करे। इस प्रयोगसे रक्तगत विष शान्त हो जाता है। रक्तसे विष पित्तमें प्रवेश करता है, तब रोगी उठकर गिर पड़ता है। शरीर पीला हो जाता है। सभी दिशाएँ एवं वस्तुएँ पीली ही नजर आती हैं। मूर्च्छा और दाह भी होते हैं। ऐसी अवस्थामें पीपल, मधु, महुआ, घृत, तूंबीकी जड़ और इन्द्रायणकी जड़—सभीको पीसकर नस्य, लेप और अञ्जन करे।

पित्तसे विष कफमें प्रवेश करता है, तब शरीर जकड़ जाता है, श्वास लेनेमें कठिनाई होती है। घण्टमें घर-घर शब्द होने लगता है और मुँहसे लार गिरने लगती है। ऐसी स्थितिमें पीपल, मिर्च, खैर, लोध, तुरई और मधुसार—इन सबको गोमूत्रमें पीसकर नस्य दे तथा पीनेको दे तो विषका वेग शान्त हो जाता है। जय कफसे विष वातमें प्रवेश करता है, तब पेटमें अफारा हो जाता है। दृष्टि भङ्ग हो जाती है और कुछ नहीं दिखायी देता। तब आलूकी जड़, खिरनी, गज-पीपल, भारंगी, देवदारु, सिनुआर, मधुसार और हिंग—सभीको पीसकर गोली बना ले। गोलीको खाने, नस्यरूपमें लेने और लेप तथा अञ्जन करनेसे विष शान्त हो जाता है। जय वातसे विष मज्जामें पहुँचता है, तब दृष्टि नष्ट हो जाती है। समस्त अङ्ग बेसुध होकर मुरझा जाते हैं। ऐसी स्थितिमें घृत, खोंड़, मधु, चन्दन और खस—सभीको पीसकर पिलाने और नस्य, लेप तथा अञ्जन करनेसे विषका वेग शान्त हो जाता है। मर्मस्थानमें विष पहुँचनेपर सभी इन्द्रियाँ नष्ट हो जाती हैं। काटनेपर रक्त नहीं निकलता, बाल उखाड़नेपर भी कोई पीड़ाका

अनुभव नहीं होता। इस दशामें पहुँचे हुए रोगीको मृत्युके वश हुआ समझना चाहिये। सिद्ध मन्त्र और ओपधिसे शायद जीवनकी रक्षा हो जाय।

कुछ उपचार

(१) साँपके काटे स्थानसे ४ अंगुल ऊपर डोरीसे कसकर बाँध दें और उस स्थानको दग्ध कर दें तो विषका नाश हो जाता है।

(२) आषाढ़ मासमें रविवारके दिन यदि सर्पगन्धा-मूल हाथमें बाँधे तो साँप नहीं काटता।

(३) पुष्य नक्षत्रमें सफेद गदहपुर्नाकी जड़को १० तोला पानी या तण्डुलोदकमें धोलकर पीनेसे मनुष्य एक वर्षतक साँपके काटनेसे सुरक्षित रहता है।

(४) मेष राशिपर सूर्यके स्थित होनेपर अर्थात् वैशाख मासमें नीमके २ पत्तोंमें मसूरके १ दानेको छपेटकर जो व्यक्ति खाय, उसे १ वर्षतक सर्प काटनेकी सम्भावना नहीं रहती।

(५) नागपञ्चमीके दिन जिस घरमें विधिपूर्वक नागकी पूजा हो, उस घरमें साँपका भय नहीं रहता।

(६) कुचिलाकी जड़को तण्डुलोदकके साथ पीसकर नस्य लेनेसे कालसर्पका काटा मनुष्य भी बच जाता है।

(७) सहिजनके बीजका चूर्ण सिरिसके फलके स्वरसे १ सप्ताहतक भावितकर खरल कर रख ले। साँप काटनेपर उसके शुष्क चूर्णका नस्य लेनेसे अथवा अञ्जन करनेसे सर्प-दंशका रोगी अच्छा हो जाता है।

(८) रसेन्द्रसारसंग्रहमें विषवज्रपाती रस नामक ओपधि लिखी गयी है। इसे १ माशा मात्रामें लेकर पुरुष-मूत्रानुपानसे दिया जाय तो कालसर्पसे काटा गया मनुष्य जिंदा होता है।

(९) १ तोला नीलको १ छटाँक जलमें धोलकर पिलानेसे लाभ होता है। यदि इससे लाभ न हो तो ५ तोला पानीमें नीलको घोटकर जल्दी-जल्दी थोड़ी मात्रासे पिलाते जाना चाहिये। रोगीको सोने नहीं दे, निश्चय लाभ मिलेगा।

(१०) भविष्यपुराणमें एक सिद्ध योग है, जिसे साक्षात् रुद्र कहा गया है, जो इस प्रकार है—

मयूर, नकुल, मार्जार—इन तीनोंका पित्त, छनालिकी जड़, वैशार, भारंगी, कूट, काशमर्दकी छाल, उत्पल, कुसुम

और कमल—इन तीनोंकी केसरसे सभी दवाइयोंको समान भाग मिलाकर गो-भूत्रमें पीसकर नस्य दे और खानेके लिये भी दे, अंजन एवं लेप करे तो काल-सर्पसे भी डसा व्यक्ति शीघ्र ही विषमुक्त हो सकता है।

कौटिल्य (चाणक्य) ने अपने अर्थशास्त्रके 'निशान्तप्रणिधि'में विषैले जन्तुओंसे रक्षाके उपायमें कहा है:—

गुडुच, शङ्खपुष्पी, मुस्तक, करोंदा गाछकी बाँझी आदिको अन्तःपुरमें चारों ओर लगा देना चाहिये। सहिजनके गाछपर जमे पीपलके पत्तोंका बन्दनवार बाँधनेसे अन्तःपुरके भीतर साँप, बिच्छू, विषरूप आदि विषैले जन्तु नहीं रह सकते। गिल्ली, मयूर, नेवला और मृग भी साँपको खा जाते हैं। मैना, तोता भी अन्नमें साँपके विषकी आशङ्का होते ही शोर मचाने लगते हैं। कौश्र पक्षी तो जहरके समीप पहुँचते ही विह्वल हो जाता है। कोयल विषको देखकर मर जाती है। चकोरकी आँख विषको देखकर लाल हो जाती है।

साँप स्वयं आदमीकी आइट पाकर हट जाता है। इसकी गति पवनकी तरह तीव्र होती है। अतः वर्षा अथवा अन्य मौसमोंमें रातमें चलते-फिरते समय काठकी पादुका या बोलनेवाले जूते पहन लेने चाहिये। झाड़-झंखाड़ अथवा ऊबड़-खाबड़ जमीन तथा केलेके घने बगीचोंमें अथवा अतिमादक गन्धों और कभी-कभी रेडियोके संगीतसे प्रभावित होकर साँप आस-पास दिखायी पड़ते हैं।

भारतीय धर्म-शास्त्रोंमें साँपको दूध पिलाने या उसे पूजनेका एक अर्थ यह भी है कि इन्हें छेड़ा न जाय। छेड़ने अथवा अनजानेमें छू जानेपर ये करारी चोट कर बैठते हैं। हर पढ़े-लिखे प्राणीको ऊपर बतायी दवाएँ तो प्रयोगमें लानी ही चाहिये। साथ ही अपने घर और आस-पासको साफ-सुथरा भी रखना चाहिये ताकि साँप आने ही न पाये।

जब लोकमान्य तिलकने मांडले जेलको नालन्दा-विश्वविद्यालयमें बदल दिया था

(लेखक—डा० श्रीसीतारामजी सहगल, शास्त्री, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०, पी-एच० डी०)

[मैं अक्सर सोचता और विस्मित भी रहता कि महाराज तिलक मांडलेकी जेलमें किस प्रकार बौद्धिक कार्यमें जुझे रहे। उस विषय वस्तुस्थितिमें इस प्रकारका कार्य करना तभी सम्भव हो सकता है जब कि मनुष्य साधक, योगयुक्त और विशुद्धात्मा हो, जब कि वह सुख-दुःख, राग-द्वेष, लाभालाभ आदि द्वन्द्वोंसे ऊपर उठा हो। लोकमान्य उस जेलमें अकेले थे। यदि कोई आ सकता था तो वह दुर्मुख जो जेलका अधिकारी था। जेलके साधारण कैदियोंको भी लोकमान्यसे दूर रखा जाता था। इसका परिणाम यह था कि वे अपनी पुस्तकोंमें ही योगीकी तरह रत रहते थे। साधारण व्यक्तिके लिये वह कितना तनावपूर्ण वातावरण था, यह बात समझमें आ सकती है। इन हालातोंमें तिलक महाराज किस प्रकार 'गीता-रहस्य' ग्रन्थरत्नकी रचना कर सके थे, यह आज भी मेरे लिये विस्मयका विषय है।]

—नेताजी सुभाषचन्द्र बोस

महर्षि अरविन्द देशभक्तोंमें देशभक्त और ऋषियोंमें ऋषि थे। एक संदर्भमें लिखते हुए उन्होंने कहा है—'लोकमान्यके जीवन तथा चरित्रके दो तथ्य देशके लिये महत्वपूर्ण हैं; क्योंकि उससे पूर्व वे मान्यताएँ देशके राजनीतिक जीवनमें अन्तिम श्वास ले रही थीं। इन दो तथ्योंमें पहला तथ्य है—अदभ्य संकल्प, जो देशभक्तके हृदयमें विराजमान होकर उसे कर्मके लिये प्रेरणा देता रहता है। इसके बिना

महत्वाकाङ्क्षाएँ, उत्साह और अन्य भाव सिक्का बनकर रह जाते हैं। संकल्प-शक्ति सृजनका काम करती है और वही व्यापक रूपमें प्रेरक रहती है। दूसरा तथ्य है—त्याग और बलिदानके लिये तैयार रहना, जिसका कुछ आधार आवश्यक होना चाहिये। त्यागके साथ साहस, धैर्य, बुद्धि और पराक्रम आदि गुण भी चाहिये। इनसे भरपूर होकर मनुष्य कष्टोंको झेल सकता है और उनपर विजय भी प्राप्त कर

सकता है। भारतमें किसी देशभक्तने यातनाओंको लोकेसेवाके लिये तिलकके समान सहन नहीं किया; किसीने बलिदानोंमें निर्भय तथा निरुद्वेग होकर अपनेको आत्मसात् नहीं किया। तिलक महाराजका नाम इतिहासमें बेजोड़ मिसाल है। वे राष्ट्रपिता, ज्योतिःपुञ्ज और पृथिवीपुत्र हैं, जिन्होंने जीवनकी क्यारीमें सूखी हुई कोंपलोंको हरा-भरा किया और उन्हें अपने कार्योंसे सुरभित कर दिया। कालिदासकी तरह उन्होंने शिरीष-फूलोंके केसरदलसे ऐसे चित्रोंका निर्माण किया, जिनसे सहयोगियोंके चरित्र सुन्दरतासे ओत-प्रोत हो गये और पवित्रता भी अपनेको पवित्र मानने लगी।

देशद्रोह-मुकद्दमेकी सफाईके लिये तिलकने इक्कीस घंटे और दस मिनटतक अपनी वक्तृता जारी रखी थी। विदेशी सरकार भारतकी आजादीकी भावनाको समाप्त कर देना चाहती थी। परन्तु तिलक हिमालयकी तरह खड़े रहे—अदम्य और निःस्पृह। ब्रिटिश सरकारका शासन उनके सामने बौना बन गया। उन्हें छः वर्षकी कैद हुई, जिसके लिये उन्हें मांडलेकी जेलमें रखा गया।

तिलक राजनीतिज्ञ न थे, वे बेजोड़ विद्वान् भी थे। महाराष्ट्रकी नस-नसमें भारतीयताका खून है, जो जोखिममें खौलने लगता है और शान्तिकी अवस्थामें देशका निर्माण करता रहता है। उनके सामने स्वामी विवेकानन्द देश और विदेशमें सूर्यकी तरह चमकते थे। वे भी वेदान्तमें कर्मयोगकी व्याख्या करते थे। एक बार एक ही रेल्गाड़ीके डिब्बेमें दोनोंने यात्रा भी की थी। विवेकानन्द बाणी और ऋतुम्भरा प्रज्ञाके धनी थे। उन्होंने तिलकको कर्मयोगके लिये प्रेरित किया। जेलसे बढ़कर तिलकके जीवनमें कौन-सा सुनहरा अवसर हो सकता था, जब विवेकानन्दके मार्गको वे अपनी व्याख्यासे सुरभित कर सकते थे। तिलकने उस समयका भरसक लाभ उठाया और एक-एक पलका उपयोग करके गीताके कर्मयोग-रहस्यको समझानेमें जेलको नालन्दा-विश्वविद्यालयमें बदल दिया। उस ग्रन्थरत्नका भारतकी कई भाषाओंमें अनुवाद हुआ, जिसने देशकी मनीषाको समझनेके लिये दरवाजे और खिड़कियाँ खुल गयीं। देशमें भावात्मक एकता बढ़ी।

मांडले जेलमें तिलकको एक सरकारी रसोइया मिला, जो मराठा था। वह महाराजके साथ दो वर्ष रहा। उसने

कुछ संस्मरण लिखवाये हैं, जो लोकमान्यके चरित्रपर रोशनी डालते हैं।

तिलक महाराष्ट्रिय ब्राह्मण थे। संस्कृतके धुरंधर विद्वान् थे। गणितज्ञ थे। एक बार उन्हें पूछा गया कि 'आप स्वतन्त्रताके बाद क्या काम करेंगे?' महाराजने जवाबमें कहा—'मैं गणितका प्रोफेसर बनूँगा।' इससे उनकी गणितमें रुचि का पता चलता है। इसी गणितके सहारे उन्होंने वेद-रचनाकालपर अपनी खोजपूर्ण सम्मति भी लिखी है। एक योगीकी तरह वे प्रातःकाल उठते थे। मुँह तथा कुल्हा करके स्तोत्र पढ़ते थे। कुछ समयके लिये वे ध्यान करते थे। इसके बाद चाय पीते थे। तब अपने स्वाध्यायमें जुट जाते थे। नौ बजे स्नानके लिये नीचे उतरते थे। रसोइयेका उपनाम कुलकर्णी था, जो हर रोज धोती और पानी लगाकर रख देता था। नहानेके लिये पानी पर्याप्त और स्वच्छ चाहते थे। वे सप्ताहमें एक बार दाढ़ी बनाते थे। शुरू-शुरूमें एक कैदी उनकी दाढ़ी बनाता था, जिसका उत्तरा इतना भौंटा होता था कि बनवानेमें उन्हें कष्ट होता था। बनानेवाला कैदी उसे भी खराब था। शिकायत करनेपर बाहरसे नाई बुलवाया जाने लगा, जो एक रुपया लेता था। यह तिलक महाराजको अपनी जेबसे देना पड़ता था। एक बार उन्होंने कहा—'कुलकर्णी, हमारे राजा-महाराजा भी दाढ़ीपर एक रुपया खर्च न करते होंगे, जितना मुझे कैदीकी हैसियतसे करना पड़ता है। परन्तु 'मरता क्या न करता' वाली बात है। मैं मधुमेह (डाएबिटीज़) का शिकार हूँ। अगर सारे धंधे अपने हाथसे कलूँगा तो बीमार हो जाऊँगा।' गर्मियोंके मौसममें तिलक दो बार स्नान करते थे। एक वर्षी कैदी उनके कपड़े धोता था। स्नानके बाद वे माथेपर भस्मका तिलक लगाते थे, जो त्यागका चिह्न है। कुछ समयके बाद कुलकर्णीने चन्दनकी लकड़ीका प्रबन्ध कर दिया। दैनिक आहुति-कर्म अवश्य करते थे। एक बार उन्होंने कहा—'कुलकर्णी! यहाँ काफी समय मिलता है। पूनाकी तरह यहाँ जल्दी नहीं है, जहाँ मुझे खानेकी भी फुरसत कम मिलती थी। हमलोग ब्राह्मण हैं। इसलिये गायत्री-जप और वैश्वदेव-कर्म तो करने ही चाहिये।'

खाद्य पदार्थोंमें रोटीका प्रयोग सुबह होता था। शामको भात और दाल खाते थे। कुछ समयके बाद उन्हें सप्ताहमें एक बार फल भी दिये जाते थे। उसके बाद

आचार, पापड़, मिर्च आदि वस्तुएँ भी मिलने लगीं । महाराज चटनीके भी शौकीन थे । खाते समय वे ध्यानमग्न रहते थे । ऐसा मादूम होता था कि किसी गीताके श्लोकके बारेमें विचार रहे हों । कुलकर्णीने लिखवाया है कि “एक बार मेरेसे भूल हो गयी । मैं दालमें नमक डालना ही भूल गया । महाराज खाकर प्रसन्न हो रहे थे । मुँछोंके साथ डंड-वैटक भी चल रही थी । जब मैंने भोजन किया तो मेरे हृदयमें भूलने हलचल पैदा कर दी; क्योंकि मेरी एक भी शिकायत हो जाती तो मैं जेलखानेका पंछी ही बना रहता । मैं दौड़कर महाराजके पास गया और हाथ जोड़कर भूलके लिये माँफी माँगने लगा । तिलक महाराजने प्रश्न किया—‘अरे, कौन-सी भूल और कैसी माफी ?’ मैंने काँपते हुए कहा—‘महाराज ! आज दालमें नमक डालना भूल गया हूँ ।’ तिलक महाराजने हँसकर कहा—‘दालमें नमक नहीं था ! अरे, मुझे तो मालूम ही नहीं, परंतु भोजन तो स्वादिष्ट था । अगर नमक न भी था तो कुछ हरकत नहीं । स्वाद आना चाहिये, सो तो था ही ।’

“प्रातःकाल भोजनके बाद वे अपने कमरेमें ही कुछ समयके लिये धूमते थे । फिर पढ़ना-लिखना शुरू हो जाता, जिसमें वे डूबे ही रहते थे । यह कार्यक्रम डेढ़ बजेतक चलता रहता था । मांडले गरम था, इसलिये वे नौबूका पानी लेते रहते थे । अगर कभी भूल रहती तो कभी दूध पीते और कभी फल खाते थे ।

“इस समय मेरे भाग्य खुलते थे । वे मुझे पैंतालीस मिनट-तक कहानियाँ सुनाते थे । उनमें तुकाराम, स्वामी रामदास, श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण, शिवाजी, कौरव-पाण्डव आदिकी कहानियाँ होती थीं । कभी-कभी हँसते भी थे । कभी पेशवाओंकी चुलबुली कहानियाँ और कभी-कभी अंग्रेजोंकी कूटनीतिपूर्ण कहानियाँ सुनाते थे । उनके पास संसारका एक नक्शा भी रहता था, जिसे वे हमेशा देखते रहते थे । फिर अपने पढ़ने-लिखनेमें जूझ जाते थे । इस समय उनकी चित्तवृत्ति योगियोंकी तरह रहती थी । उन्हें सख्त गर्मीकी छायाका आभास भी न होता था । पाँच बजे सायंकालका भोजन करते थे । छः बजे सायंकाल हमारी जेलकी कोठरी बंद हो जाती थी और हम दोनों बारह घंटे उस कबूतरखानेमें बंद रहते थे । वे रातको निर्विघ्न सोते थे । कभी-कभी तो खुराटे भी लेते थे ।”

रसोइयेको जेलकी बर्दी पहननेका हुकम था । जेल सुपरिंटेंडेंट उसे अधिक काम देना चाहता था । तिलकने

इसके विरोधमें पत्र भेजा—‘इस कैदीको मेरे पास रखना कानूनके विरुद्ध है । इसे कालेयानीकी सजा नहीं हुई है; तब वह मेरे साथ कैसे रह सकता है ? साथ ही जेल-नियमोंके अन्तर्गत जो सुविधाएँ इसे मिलनी थीं, वे नहीं दी गयीं ।’ इस वकालतसे उसे ‘वार्डर’ बनाया गया और कैदमें भी डेढ़ वर्षकी छूट दी गयी ।

मांडले बड़ा गरम था । तिलक महाराजके शरीरमें फोड़े हो गये । उन्होंने बंबई सरकारको एक निवेदनपत्र भेजा, जिसमें कहा गया कि उन्हें अंडामनमें जमानतपर छोड़ दिया जाय । इस निवेदनको सरकारने नामंजूर कर दिया । इसपर महाराजने कहा—‘परमेश्वरकी इच्छा है कि मैं इसी कोठरीमें अन्तिम स्वास लूँ ।’

लोकमान्य पुस्तकोंके अनन्य प्रेमी थे । एक दिन उनके रसोइयेने कहा—‘महाराज ! आप हमेशा ही विचारोंमें उलझे रहते हैं ।’ वे हँसकर बोले—‘कुलकर्णी ! आदमीका सिर एक अनोखा ब्रह्माण्ड है और उसमें हरकतें बराबर होती रहती हैं । यहाँ मैं एक स्कूलका विद्यार्थी हूँ, यह कोठरी मेरी पाठशाला है, पुस्तकें मेरे लिये गुरु हैं, जेल चपरासी हैं और तुम मेरे साथी हो । मैं इस स्कूलमें जर्मन, फ्रेंच, पाली और अन्य भाषाएँ सीख रहा हूँ । जेलसे रिहा होनेपर मेरा जर्मनी जानेका विचार है । क्या तुम मेरे साथ रसोई बनानेके लिये चलोगे ?’

एक बार मांडलेमें हैजेका आतङ्क छा गया । तब उन्हें मिर्कितला जेलमें ले जाया गया । जेलसे स्टेशनतक सैनिक तैनात कर दिये गये । लोगोंको पता लग गया । भीड़ इकट्ठी हो गयी और नारे लगाये गये—‘तिलक महाराजकी जय’ । जब वे मिर्कितला जेल पहुँचे वहाँ भी लोगोंने जयकारपूर्वक अपने लाडले नेताका अभिनन्दन किया—‘तिलक महाराजकी जय ।’ इसपर जेलरने पूछा—‘आप किस रियासतके राजा हैं ।’ तिलकने उत्तरमें कहा—‘मैं तो इस शरीरका भी मालिक नहीं हूँ, तब मेरा राज्य किस रियासतपर हो सकता है ?’

कुलकर्णीको तिलक महाराजसे पहले छोड़ा गया । उसने पूना पहुँचकर महाराजके कुशल-मङ्गलका समाचार दिया । जब तिलक रिहा हुए, तब कुलकर्णी फिर नमस्कार करनेके लिये आया । लोकमान्यके कहनेपर वह उनके पास ही रहने लगा । उसने कहा—‘मैं तो एक नीच, पामर हूँ । महाराजके सत्सङ्गसे मेरे जीवनपर जो धब्बा लगा हुआ था, वह धुल गया ।’

ठीक ही कहा है—

‘सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ।’

परमार्थ-पत्रावली

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने पत्र)

(१)

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । मनुष्यको प्रतिकूल परिस्थितिसे ऊबना नहीं चाहिये । मनुष्य-जीवन बड़े ही महत्त्वका है । यह प्राणीको प्रसु-मिलनके लिये मिला है । इसीलिये महापुरुषोंने इसे 'साधनभाम' बताया है ।

अनुकूल और प्रतिकूल सभी परिस्थितियाँ मनुष्यको पूर्वकृत कर्मके फलरूपमें ही मिलती हैं । अतः मनुष्यको परिस्थितियोंके जालमें नहीं फँसना चाहिये—न तो अनुकूल परिस्थितिमें सुखभोगका रस लेना चाहिये और न प्रतिकूलमें विषादयुक्त और भयभीत होना चाहिये; प्रत्युत विवेकपूर्वक उनका सदुपयोग करना चाहिये ।

प्रतिकूल परिस्थिति पूर्वकृत पापकर्मोंका फल भुगताकर मनुष्यको शुद्ध बनाती है, संसारकी निस्सारताका दर्शन कराकर उसमें वैराग्य उत्पन्न करती है, संसारसे निराश होकर प्रभुपर निर्भर होनेकी प्रेरणा देती है; साथ ही यह भाव भी प्रदान करती है कि संसारमें कोई भी व्यक्ति वास्तवमें अपना हितकर नहीं है, एकमात्र प्रभु ही विश्वास करनेयोग्य और प्राणीके नित्य सङ्गी हैं । इस दृष्टिसे प्रतिकूल परिस्थितिका बड़ा महत्त्व है । इस महत्त्वको समझकर, संसारके पदार्थों और व्यक्तियोंसे निराश होकर उनसे किसी प्रकारकी भी आशा न करना और अपने नित्य-सङ्गी प्रभुपर दृढ़ विश्वास करके उनको अपना मानकर उनपर निर्भर हो जाना—यही उस परिस्थितिका सदुपयोग करना है । ऐसा करनेसे मनुष्य बड़ी सुगमतासे परम सुखी हो सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं है ।

पाप करनेवाले चैनकी वंशी बजा रहे हैं, यह समझना भूल है । धन-सम्पत्तिके बढ़ जानेका नाम चैन

या सुख नहीं है । बड़े-से-बड़े धनी-मानी मनुष्यके अभाव की पूर्ति कभी नहीं होती, प्रत्युत अभाव बढ़ता ही जाता है और लोभके कारण वह सर्वथा बेचैन ही रहता है । उसे न तो शान्ति मिलती है और न सुख ही ।

भलाईका परिणाम कभी बुराई नहीं होता, यह निश्चय समझना चाहिये ।

आपके साथ जो अधिकारी अत्याचार करते हैं, उनसे आप द्वेष न करें । अपने ऊपर होनेवाले अत्याचारको अपने कर्मका फल या भगवद्विधान मानकर क्रोधका त्याग करें एवं अपने कर्त्तव्यका धैर्यपूर्वक पाठन करें, उनकी उन्नतिको देखकर ईर्ष्या न करें, उनके प्रति प्रेम-भाव रखें तथा उनके अत्याचारका उत्तर विनम्र-भावसे प्रेमपूर्वक देते रहें । ऐसी चेष्टा करनेसे उनके स्वभावका परिवर्तन हो सकता है । आप धैर्यपूर्वक इस युक्तिको काममें लाकर देखें । यद्यपि पहले यह बड़ी कठिन औषध प्रतीत होगी, पर इसका परिणाम बड़ा ही उत्तम हो सकता है । आप अपने मनकी दुर्भावनाका त्याग करके चित्तको शुद्ध बनाइये । मैंने जो यह उपाय बताया है, वह वास्तवमें बड़ा ही सुगम है; क्योंकि इसमें किसी प्रकारकी पराधीनता नहीं है । ऐसी कोई वस्तु या योग्यताकी आवश्यकता इसमें नहीं है, जो मनुष्यके पास न हो ।

(२)

सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । अपने अशुभगुणोंको देखकर शरीरका नाश कर लेनेकी सोचना तो महामूर्खता है । यह मनुष्य-शरीर बड़ा ही दुर्लभ है, इसे नष्ट करना महापाप है, अतः ऐसे विचार मनमें नहीं आने देने चाहिये; क्योंकि मरनेके समय भयानक दुःख तो होता ही है, इसके अलावा मरनेके बाद

आत्महत्याका नरकयातनारूप भयानक दण्ड भोगना पड़ता है।

समस्त विकारोंकी जड़ अज्ञान है। यदि अज्ञान न रहे तो किसी भी विकारकी सत्ता नहीं रह सकती। प्राणिमात्रमें सुखकी स्वाभाविक माँग है। उसीके प्रलोभनमें यह इधर-उधर भटक रहा है, अनुचित-उचितका विचार छोड़कर ठोकरें खाता फिरता है। पर जब संसारमें कहीं भी इसे सुख नहीं मिलता, तब अपने कुकृत्योंकी ओर दृष्टि जाती है। यह भी सबकी नहीं, जिसपर प्रभुकी कृपा होती है, उसीकी दृष्टि इधर घूमती है। अतः आपको जो अपनेद्वारा होनेवाले कुकर्म और विकारोंपर घृणा होती है, यह प्रभुकी बड़ी भारी कृपा है। इस कृपाका और उस कृपाद्वारा मिले हुए विवेकका आदर करके आपको उस परम सुहृद् प्रभुसे प्रेम करना चाहिये। इन विकारोंसे दुखी होकर खुले दिलसे प्रभुकी शरण ग्रहण कर लीजिये। वे सर्व-समर्थ प्रभु आपको क्षणभरमें निर्विकार कर सकते हैं। कब ? जब आपको अन्य किसीका भी भरोसा न रहे। भयहारी प्रभुके रहते हुए किसी भी परिस्थितिमें भयभीत होना एक प्रकारसे प्रभुकी कृपाका निरादर है।

हमारे प्रभु इतने कृपालु हैं कि वे पापीसे कभी घृणा नहीं करते; उनका नाम ही जो 'पतितपावन' ठहरा। जो अपने कुकृत्योंसे दुखी हो जाता है और भविष्यमें उनको करना नहीं चाहता, उसे प्रभु अवश्य पवित्र बना लेते हैं।

प्रभु अपने दासमें अभिमानकी गन्ध भी नहीं रहने देना चाहते। अतः प्रभुने आपके अभिमानका नाश करनेके लिये यह परिस्थिति पैदा की है, इस भावनासे भावित होकर प्रभुकी कृपाका आश्रय लेकर प्रभुपर अपने-को छोड़ दें और मनमें यह प्रतिज्ञा करें कि अब मैं किसीके दोषोंको न तो देखूँगा न उनका चिन्तन ही

करूँगा और न अपने किसी प्रकारके गुणका अभिमान करूँगा। सच्चा गुण तो साधकका जीवन बन जाता है। अतः उसमें अभिमान नहीं होता।

दूसरोंकी उन्नतिको न सह सकनेका दोष तभीतक टिका रहता है, जबतक मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि हम सब उस एक ही प्रभुकी संतान हैं और हरेककी उन्नति अपनी ही उन्नति है। जब मनुष्य सच्चमुच प्रभुका हो जाता है—एक प्रभुके अतिरिक्त किसीको अपना नहीं मानता और प्रभुके नाते सबको अपना मानने लगता है, तब यह अमर्षका दोष बड़ी सुगमतासे समूल नष्ट हो जाता है।

मनको डाँटने-फटकारनेकी अपेक्षा समझाकर काम लेना चाहिये। मन जो कुछ करता है, आपका बल पाकर ही करता है; उसमें अपना बल नहीं है। अतः आप मनको मदद न दीजिये। आपका सहयोग न मिलनेपर वह स्वतः शुद्ध हो सकता है।

परस्त्रीके प्रति माता, बहिन और कन्याकी भावना करनी उत्तम है, किंतु सबमें ईश्वर-बुद्धि की जाय तो और भी उत्तम है। ऐसी चेष्टा करनेपर कामका विकार नहीं होता।

राग-द्वेष तभीतक रहते हैं, जबतक हम किसीको अपना और किसीको पराया मानते रहते हैं। जब यह बात समझमें आ जाय कि अपने तो एकमात्र प्रभु हैं, और कोई अपना है ही नहीं, तब समस्त रागका नाश होकर प्रभुमें अनुराग हो सकता है; एवं जब यह समझमें आ जायगा कि 'सभी प्रभुके हैं, इस नातेसे सभी अपने हैं, कोई दूसरा है ही नहीं' तब द्वेष भी समूल नष्ट हो सकता है। इन दोनोंका अन्त होते ही अन्तःकरण परम निर्मल हो जानेपर उसमें एकमात्र प्रभुके ही दर्शन होने लगते हैं, ऐसा दृढ़ विश्वास करना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

श्रीराधा-प्राकट्य-महोत्सव

आज श्रीराधाजनमाष्टमी है। आजके ही मङ्गलमय दिवस साक्षात् सच्चिदानन्दरसविग्रहा, आनन्दांशधनीभूता, आनन्द-चिन्मयरसप्रतिभाविता, भन्मथ-भन्मथ-भन्मथा, परमानन्द-परमानन्ददायिनी, रसिकेन्द्र-शिरोमणि-रस-प्रदायिनी, रसिकेन्द्रेश्वरी, साक्षात् हादिनी श्रीराधािका अपने ननिहाल श्रीरावल्लभाममें मङ्गलमय प्राकट्य हुआ था। परम और चरम त्यागका, सर्वसमर्पणमय उज्ज्वलतम प्रेमका, स्वसुखवाञ्छाविरहित प्रियतम-सुखेच्छामय स्वभावका और 'अहं' की चिन्ता, मङ्गलकामना ही नहीं, 'अहं' की स्मृतिसे भी शून्य प्रियतम-स्मृतिमय जीवनका कैसा स्वरूप होता है—श्रीराधाने अपने प्रत्यक्ष जीवनसे इसका एक नित्यचेतन क्रियाशील मूर्तिमान् उदाहरण उपस्थित करके जगतके इतिहासमें एक अभूतपूर्व दान किया है। इस महान् दानका मङ्गलमूल आजका ही मङ्गलमय दिन है। इसलिये यह दिन धन्य है, यह भारतवर्ष धन्य है और इसके निवासी हमलोग भी धन्य हैं, जो आज श्रीराधाके प्राकट्य-महोत्सवके उपलक्ष्यमें उनका मङ्गलमय स्मरण कर रहे हैं।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके प्राकट्यके समय जिस आनन्द-रसकी धारा बही थी, आज उनकी आनन्द-रस-भावमयी इन हृदयेश्वरीके प्राकट्यके समय वह रस मानो समुद्र बनकर उमड़ चला और सभी दिशाएँ उस आनन्द-रससे आप्लावित हो गयीं।

नन्द-यशोदाके घर प्रकट हुए थे जब राधाप्रिय श्याम।
हुई प्रवाहित थी तब रस-आनन्द-सुधा-सरिता अभिराम ॥
आज श्यामकी हृदयवल्लभा प्रकट हुई जब रावल-ग्राम।
उमड़ चला वह रस सागर बन, प्लावितकर सब दिशा ललाम ॥

फिर, सभी दिशाएँ जयध्वनिसे गूँज उठीं; ऋषिवर करभाजन, शृङ्गी, गार्ग और मुनि दुर्वासा पहलेसे ही पधारे हुए थे। उन्होंने वालिकाके मङ्गल ग्रह-नक्षत्रोंका शोध किया और कुण्डली बनायी। सम्पूर्ण ब्रजमण्डलमें यह शुभ समाचार फैल गया। महाभाग नन्द-यशोदा सदल-बल उपहार लेकर पधारे। घर-घर बधाइयाँ बँटने लगीं। देवर्षि नारद आये और आनन्दरसमयी श्रीराधाका दर्शन-स्तवन करके कृतार्थ हो गये।

श्रीराधाका स्वरूप और श्रीकृष्णके साथ

उनका अभेद

जैसे सच्चिदानन्दधन भगवान् श्रीकृष्ण नित्य हैं, समय-

समयपर इस भू-मण्डलमें उनका आविर्भाव-तिरोभाव हुआ करता है, इसी प्रकार सच्चिदानन्दमयी भगवती श्रीराधाजी भी नित्य हैं। वास्तवमें भगवान्की निजस्वरूपा-शक्ति होनेके कारण वे भगवान्से सर्वथा अभिन्न हैं और समय-समयपर लीलाके लिये आविर्भूत-तिरोभूत हुआ करती हैं। नारद-पञ्चरात्रमें कहा गया है—

यथा ब्रह्मस्वरूपश्च श्रीकृष्णः प्रकृतेः परः।

तथा ब्रह्मस्वरूपा च निर्लिप्ता प्रकृतेः परा ॥

आविर्भावस्तिरोभावस्तस्याः कालेन नारद।

न कृत्रिमा च सा नित्या सत्यरूपा यथा हरिः ॥

जैसे श्रीकृष्ण ब्रह्मस्वरूप हैं तथा प्रकृतिसे पर हैं, वैसे ही श्रीराधाजी भी ब्रह्मस्वरूपा, निर्लिप्ता तथा प्रकृतिसे पर हैं। भगवान्की भाँति ही उनका समय समयपर आविर्भाव-तिरोभाव हुआ करता है। वस्तुतः वे भी श्रीहरिके सदृश ही अकृत्रिम, नित्य और सत्यस्वरूप हैं।

श्रीराधामें परस्परविरोधी गुणोंका समावेश

श्रीराधारानी भगवान् श्रीकृष्णका ही एक दूसरा स्वरूप हैं और उन्हींकी भाँति उनमें समस्त भगवदीय गुणोंका प्राकट्य है। प्रेमकी परमोच्च सीमास्वरूप महाभावरूपा होनेपर भी वे नित्य-निरन्तर अपनेमें प्रेमका अभाव देखती हैं। अतएव उनका वह दिव्य प्रेम प्रतिपल नित्य वर्द्धनशील है, वह कभी पूरा होता ही नहीं। वे नित्यपरिवर्द्धनशील, नित्यनवायमान सौन्दर्य-माधुर्यका अगाध, अपरिसीम, अनन्त भंडार होनेपर भी अपनेमें कुरूपता देखकर कभी भी अपनेको प्रियतम श्यामसुन्दरके योग्य अनुभव नहीं करतीं और सदा सकुचाती रहती हैं। अनन्त-अचिन्त्य-अनिर्वचनीय सहज दिव्य भावस्वरूपा होनेपर भी वे अपनेको दोषागार मानकर लज्जाका अनुभव करती हैं। शिव-ब्रह्मादि देवगण, नारद-सनत्कुमार आदि मुनि, वसिष्ठ-व्यासादि महर्षि, याज्ञवल्क्य-शुक्रदेव आदि ज्ञानी, अनसूया-अरुन्धती आदि सती-पतिव्रताशिरोमणियाँ एवं ब्रह्मविद्या आदि प्रत्यक्ष ज्ञानमूर्ति देवियों आदिके द्वारा उपासित, आराधित, परमगौरवमयी, महामहिमामयी, नित्य निर्मल-प्रेमाकर-स्वरूपा होनेपर भी वे अपनेको गौरव-महिमा-विहीन और विकारिहृदय-सम्पन्न बतलाती हैं और नित्य सहज अनुगत होनेपर भी पुनः-पुनः वक्रगतिका अवलम्बन करती

हैं। इस प्रकार उनमें नित्य-निरन्तर अनन्त-अचिन्त्य निरतिशय परस्पर-विरोधी धर्म एवं भावोंका विकास रहता है।

श्रीराधा और श्रीकृष्ण अभिन्न होनेपर भी विलक्षण प्रेम-सम्बन्धसे सम्बन्धित हैं। वे परस्पर प्रेमी भी हैं और प्रेमास्पद भी। परन्तु अधिकांशमें श्रीराधा ही आश्रयालम्बनस्वरूपा बनी हुई श्रीकृष्णकी आराधना करके उन्हें सुख पहुँचाती रहती हैं। श्रीराधामें अनन्त गुण हैं। उनके स्वरूप-गुणोंको यथार्थतः पूरा कोई नहीं जानता।

श्रीराधापूजनकी प्राचीनता एवं आवश्यकता

श्रीमद्देवीभागवतमें श्रीनारायणने नारदजीके प्रति 'श्रीराधायै स्वाहा'—इस षडक्षर राधामन्त्रकी अति प्राचीन परम्परा तथा विलक्षण महिमाके वर्णन-प्रसङ्गमें श्रीराधा-पूजाकी अनिवार्यता तथा परम कर्तव्यताका निरूपण करते हुए कहा है—

कृष्णार्चायां नाधिकारो यतो राधार्चनं विना ।

वैष्णवैः सकलैस्तस्मात् कर्तव्यं राधिकार्चनम् ॥

कृष्णप्राणधिदेवी सा तदधीनो विभुर्यतः ।

रासेश्वरी तस्य नित्यं तथा हीनो न तिष्ठति ॥

राधोक्ति सकलान् कामास्तस्माद् राधेति कीर्तिता ॥

(देवीभागवत ९।५०।१६—१८)

'श्रीराधाकी पूजा न की जाय तो मनुष्य श्रीकृष्णकी पूजाका अधिकारी नहीं बनता। अतएव समस्त वैष्णवोंको चाहिये कि वे भगवती श्रीराधाकी अर्चना अवश्य करें। ये श्रीराधा भगवान् श्रीकृष्णके प्राणोंकी अधिष्ठात्री देवी हैं, इसीलिये भगवान् इनके अधीन रहते हैं। ये भगवान्के रासकी नित्य अधीश्वरी हैं। इन श्रीराधाके विना भगवान् श्रीकृष्ण क्षणभर भी नहीं ठहर सकते। ये सम्पूर्ण कामनाओंका 'राधन' (साधन) करती हैं, इसी कारण इन देवीका नाम श्री'राधा' कहा गया है। (इनकी पूजा अनिवार्य है।)'

'राधा' नाम तथा राधाष्टमी-व्रतकी महिमा

पद्मपुराणमें कथा आती है कि एक बार भगवान् शंकरने देवर्षि नारदसे कहा—'जो मनुष्य 'राधा-राधा' कहता है तथा स्मरण करता है, वह सब तीर्थोंके संस्कारसे युक्त होकर सब प्रकारकी विद्याकी प्राप्तिमें प्रयत्नवान् बनता है। जो 'राधा-राधा' कहता है, 'राधा-राधा' कहकर पूजा करता है, 'राधा-राधा' में जिसकी निष्ठा है, जो 'राधा-राधा' उच्चारण करता

रहता है, वह महाभाग वृन्दावनमें श्रीराधाकी सहचरी होता है। इस विश्व-ब्रह्माण्डमें यह पृथ्वी धन्य है, पृथ्वीपर वृन्दावनपुरी धन्य है। वृन्दावनमें सती श्रीराधाजी धन्य हैं, जिनका ध्यान बड़े-बड़े मुनिवर करते हैं। जो ब्रह्मा आदि देवताओंकी परमाराध्या हैं, जिनकी सेवा देवतालोग दूरसे ही करते रहते हैं, उन श्रीराधिकाजीको जो भजता है, उसको मैं भजता हूँ। हे महाभाग ! उनका कथा-कीर्तन करो, उनके उत्तम मन्त्रका जप करो और रात-दिन 'राधा-राधा' बोलते हुए नाम-कीर्तन करो। जो मनुष्य कृष्णके साथ राधाका (अर्थात् राधे कृष्ण, राधे कृष्ण) नामकीर्तन करता है, उसके माहात्म्यका वर्णन मैं नहीं कर सकता और न उसका पार ही पा सकता हूँ। गङ्गा, गया और सरस्वती सदा हितकारिणी नहीं होतीं, परन्तु 'राधा'-नाम-स्मरण कदापि निष्फल नहीं जाता। यह सब तीर्थोंका फल प्रदान करता है। श्रीराधाजी सर्वतीर्थमयी तथा सर्वैश्वर्यमयी हैं। श्रीराधा-भक्तके घरसे कभी लक्ष्मी विमुख नहीं होती। हे नारद ! उसके घर श्रीराधाके साथ श्रीकृष्ण वास करते हैं। श्रीराधाकृष्ण जिनके इष्टदेवता हैं, उनके लिये राधाष्टमी-व्रत ही सर्वश्रेष्ठ व्रत है। उनके घरमें श्रीहरि देहसे, मनसे कदापि पृथक् नहीं होते।' श्रीराधा-नाम तथा राधाष्टमी-व्रतकी इस महिमाको सुनकर मुनिश्रेष्ठ नारदजीने प्रणत होकर यथोक्त रीतिसे श्रीराधाष्टमीके दिन यजन-पूजन किया। जो मनुष्य इस लेकमें इस श्रीराधाजन्माष्टमी-व्रतकी कथाका श्रवण करता है, वह सुखी, मानी, धनी और सर्वगुणसम्पन्न हो जाता है। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक श्रीराधा-मन्त्रका जप करता है अथवा नाम-स्मरण करता है, वह धर्मार्थी हो तो धर्म प्राप्त करता है, अर्थार्थी हो तो धन पाता है, कामार्थी पूर्णकाम हो जाता है और मोक्षार्थीको मोक्ष प्राप्त होता है। कृष्णभक्त वैष्णव सर्वदा अनन्यशरण होकर जब श्रीराधाकी भक्ति प्राप्त करता है, तब सुखी, विवेकी और निष्काम हो जाता है।

श्रीराधाके त्यागकी अलौकिकता

पवित्र प्रेमकी प्राप्तिके लिये जिस त्यागकी आवश्यकता है, उससे भी कहीं अधिक त्याग श्रीराधामें स्वाभाविक है। वास्तवमें श्रीराधाजी दिव्य प्रेमस्वरूपा ही हैं, पर आदर्शके लिये उनका त्याग परमोज्ज्वल है और श्रीगोपाङ्गनाएँ भी उसीका अनुकरण करती हैं। श्रीकृष्णका सुख ही उनका

जीवन है। उन्हें न त्यागका भय है न त्यागकी आकाङ्क्षा; इसी प्रकार न वे भोग-वासना रखती हैं और न वे किसी निज-कल्याण-कामनासे भोग-त्याग करती हैं। उनका अपना न कोई काम है न उनके लिये कोई काम्य वस्तु है। वे केवल और केवल अपने श्यामसुन्दरको जानती हैं और अपने सहज सर्व-समर्पणद्वारा अनवरत उनको सुख पहुँचाया करती हैं। यही उनका जीवन-सार है—

सर्वत्यागमय पूर्ण समर्पण, दोषबुद्धि-विरहित व्यवहार।

भोग-मोक्ष-इच्छा-विरहित प्रियतम-सुख केवल जीवन-सार ॥

इस परम मधुरतम प्रेममें मोक्ष-सुखकी इच्छाको भी 'काम' माना जाता है; अतः उसका भी सहज त्याग हो जाता है; फिर जगत्के तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है। इस प्रेम-सुधाकी पवित्र मधुर धारा प्रतिक्षण बढ़ती हुई असीमकी ओर प्रवाहित होती रहती है।

प्रेम पवित्र परम उज्ज्वल, जो काम-कतुपसे रहित, उदार। शशधर-कला-सदृश प्रतिफल ही बढ़ता रहता सहज अपार ॥ नहीं कभी भी; किसी हेतुसे हो सकता उसका प्रतिरोध। नहीं कभी उसका कर सकता कोई लौकिक भाव विरोध ॥ धन-जन-तन, बहुभोगजनित सुख-दुःख प्रबलका तनिक अभाव। नहीं कभी होता प्रेमाप्लावित मनपर, रहता सन्भाव ॥ नहीं नरकका भय रहता कुछ, रहता नहीं स्वर्गका काम। जीवन-मरण प्रेम-रसमें नित डूबे ही रहते अभिराम ॥ प्रियतम प्रभु वन स्वयं मधुरतम प्रेम-सुधा-रस-पारावार। करते परम मनोहर अपनेमें ही आप विचित्र विहार ॥ उठतां ललित लहरियाँ उसमें, अनुपम, अमल, अमित, अविराम। देतीं सतत, अनन्त कालतक सुख शुचि, नित्य-नवीन, ललाम ॥ इह-पर रहता नहीं, नहीं रहता अनित्य दुःखमय संसार। उठता नहीं मोक्ष-सुखका भी मनमें किंचित् काम-विकार ॥ रहते प्रियतम सुख-सच्चिन्मय छाये एक सदा सर्वत्र। सदा अमृतरस-वर्षा होती सुर-मुनि-दुर्लभ परम पवित्र ॥

श्रीगंधामें इस प्रेम-समर्पणकी पूर्णता है। इसीसे वे परम अनुरागके मधुर सागरमें डूबी हुई, नित्य-निरन्तर प्रियतम श्रीकृष्णमें नित्य नये नये सौन्दर्य-माधुर्यका अनुभव करती रहती हैं।

साधनाकी दो धाराएँ, गोपीभावकी परम दुर्लभता

यों तो साधनाकी दो धाराएँ हैं—अनादिकालसे। एक धारामें 'अहं'के परिणामकी चिन्ता है, 'अहं'के मङ्गलकी

भावना है। दूसरी धारामें 'अहं'का सर्वथा समर्पण है। इन्हीं दोनों धाराओंके अनुसार अध्यात्मराज्यकी सारी साधनाएँ चलती हैं। संक्षेपमें जिस धारामें कर्मकी और ज्ञानकी प्रधानता है, उस धारामें आत्मपरिणामकी चिन्ता है, 'अहं'के मङ्गलकी भावना है। भगवान् ने गीताके अन्तिम उपदेशमें कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(१८।६६)

यह बड़ा सुन्दर, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपदेश भगवान् का है। परंतु इस उपदेशमें 'पापनाशका प्रलोभन' है—'तुम्हारे पापोंका नाश मैं कर दूँगा, तुम चिन्ता न करो।' पापका भय है, नहीं तो चिन्ताकी कोई आवश्यकता नहीं। साधक सोचता है कि मेरे पापका नाश कैसे होगा, मेरा मङ्गल कैसे होगा? इसमें 'अहं' के मङ्गलकी भावना है, 'अहं' के परिणामकी चिन्ता है।

इससे और आगे बढ़ते हैं तो कहते हैं कि 'हमारा बन्धनसे छुटकारा हो जाना चाहिये, मुक्ति मिल जानी चाहिये।' 'किसको?' 'जिसे बन्धन है, उसको।' मुक्तिकी चाहमें 'अहं' की अपेक्षा है ही। बन्धनकी कल्पनामें यह सहज बात है कि 'मैं बन्धनमें हूँ, मुझे मुक्ति मिले।' यहाँ मोक्षकी इच्छा है, जिसे 'मुमुक्षा' कहते हैं। इसका अर्थ यही होता है कि उसे बन्धनकी तीव्र वेदना है और वह बन्धनसे छूट जाना चाहता है। 'मैं बन्धनमें हूँ और मैं छूट जाऊँ।' यह जो बन्धनका बोध है, इसमें 'अहं'के मङ्गलकी आकाङ्क्षा भरी है। इसीसे जहाँ कोई प्रलोभन नहीं, जहाँ ऐसी कोई भावना नहीं, इसके बादकी वह स्थिति बतलाते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

यहाँ 'पापनाशका प्रलोभन' नहीं है। यहाँ साधकके मनमें यह नहीं है कि 'मुझे पाप लगेगा।' यहाँ तो वह 'ब्रह्मभूत' है, 'प्रसन्नात्मा' है। उसे न शोच है न आकाङ्क्षा है। स्वयमेव अपने-आप भगवान् आते हैं, भगवान् की भक्ति प्राप्त होती है। 'मेरी परामक्ति प्राप्त करता है' यह दूसरे स्तरकी चीज है—'मद्भक्तिं लभते पराम्।' पर यहाँ भी भक्तिलभकी आकाङ्क्षा है। जहाँ कोई आकाङ्क्षा नहीं, जहाँ कोई वासना नहीं, जहाँ 'अहं' का सर्वथा विस्मरण-

समर्पण है, जहाँ केवल प्रेमास्पदके सुखकी स्मृति है और कुछ भी नहीं—यह एक विचित्र धारा है और इस धाराका मूर्तिमान् रूप ही 'श्रीराधा' हैं। जितनी और सखियाँ हैं, जितनी और गोपाङ्गनाएँ हैं, वे सब राधा-व्यूहके अन्तर्गत आती हैं और राधा इस भावधाराकी मूर्तिमती सजीव प्रतिमा हैं। राधाका आदर्श—राधाका जीवन इसीलिये 'ब्रह्मविद्या'के लिये भी आकाङ्क्षित है। यह कथा आती है पद्मपुराणके पातालखण्डमें—ब्रह्मविद्या स्वयं तप कर रही हैं। उनको तप करते देखकर ऋषि पूछते हैं कि 'आप कौन हैं? आप क्यों इतना कठिन तप कर रही हैं?' ब्रह्मविद्याने कहा, 'मैं ब्रह्मविद्या हूँ।' ऋषियोंने पूछा, 'आपका कार्य?' ब्रह्मविद्याने कहा कि 'सारे जगत्को अज्ञानसे मुक्त करके ब्रह्ममें प्रतिष्ठित कर देना—यह मेरा कार्य है।' सारे जगत्के अज्ञान-तिमिरको सर्वदाके लिये हर लेना और ज्ञान प्रकाशित करना—यह उनका स्वाभाविक कार्य है। ऋषियोंने पूछा—'तो फिर आप तपस्या क्यों कर रही हैं?' वे यह तो न कह सकीं कि 'राधाभावकी प्राप्तिके लिये।' उनकी यह कहनेकी भी हिम्मत न पड़ी। उन्होंने कहा—'गोपीभावकी प्राप्तिके लिये।' गोपीभाव बड़ा विलक्षण है। श्रीराधा-माधवके सुखकी सामग्री एकत्र कर देना जिनके जीवनका स्वभाव है, वे हैं गोपी। अपनी बात कहीं नहीं है, जगत्की स्मृति नहीं है, ब्रह्मकी परवा नहीं है, ज्ञानका प्रलोभन नहीं है। अज्ञानका तिमिर तो है ही नहीं। वहाँ केवल एक ही बात है, दूसरी चीज है ही नहीं। गोपी केवल एक ही बातको लेकर जीवित रहती है कि वह राधा-माधवको कैसे सुखी देख सके। यसः। इसी गोपीभावमें इस प्रकारका प्रलोभन है, इस प्रकारका आकर्षण है कि ब्रह्मविद्या ही नहीं, स्वयं भगवान् इस भावकी प्राप्तिके लिये, इस रसका आस्वादन करनेके लिये, इस प्रकारकी लीला करनेको बाध्य होते हैं, जिससे इस परम पुनीत, परम आदर्श प्रेमराज्यकी कुछ थोड़ी-सी झाँकी जगत्को प्राप्त होती है।

राधाभाव क्या है ?

तो यह श्रीराधा-भाव क्या है ? भगवान्के स्वरूपका एक भाव है—'आनन्द।' यह अंश नहीं, आनन्दांश नहीं। सत् भगवान्का स्वरूप, चित् भगवान्का स्वरूप, आनन्द भगवान्का स्वरूप। तो भगवान्का जो स्वरूपानन्द है, उस स्वरूपानन्दका वैष्णव-शास्त्रोंमें नाम है—'आह्लादिनी

शक्ति'। इस आह्लादिनीका जो सार है, जो सर्वस्व है, उसे कहते हैं 'प्रेम'। उस प्रेमका जो परम फल है, उसे कहते हैं 'भाव' और वह भाव जहाँ जाकर परिपूर्ण होता है, उसे कहते हैं 'गद्गाभाव'। यह महाभाव ही 'श्रीराधा' हैं।

भावके अनेक स्तर हैं—रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव। ये सभी आह्लादिनी शक्तिके ही भाव हैं। इन सारे भावोंका जहाँ पूर्णतम प्रकाश, अनन्ततम प्रकाश है—वह 'श्रीराधा-भाव' है। अब श्रीराधा क्या हैं ? यह कोई नहीं बता सकता कि वे क्या हैं। राधा हैं—श्रीकृष्णका सुख। राधा हैं—श्रीकृष्णका आनन्द। राधा न हों तो श्रीकृष्णके आनन्दरूपकी सिद्धि ही न हो। श्रीकृष्णके आनन्दका नाम है—'राधा'। इन राधाके अनेक स्तर हैं, अनेक स्वरूप हैं, अनेक विकास हैं। इसलिये आजका यह उत्सव कोई तमाशा नहीं है, न यह किसीका जन्मोत्सव मनाया जाना ही है। यह एक बहुत ऊँचे—ऊँचे-से-ऊँचे साधनका संकेत है। इस साधनके संकेतमें जो साधनकी दृष्टिसे समवेत होते हैं, उन्हें परमोच्च साधनका लक्ष्य प्राप्त होता है। तमाशा देखनेवालोंको तमाशा दीखता है। दोष देखनेवालोंको दोष ही मिलता है।

जैसे एक मूर्तिमान् रसराज श्रीकृष्णके द्वारा ही समस्त रसोंका अस्तित्व और प्रकाश है, वैसे ही एकमात्र मूर्तिमती महाभावस्वरूपा श्रीराधाके द्वारा ही अमूर्त-समूर्त सभी भावोंका विकास और विस्तार है तथा उन-उन विभिन्न भावोंके अनुसार ही तदनुरूप रसतत्त्वका ग्रहण होता है। एक ही विद्युत्-ज्योति विविध विभिन्न वर्णोंके बल्बों—विद्युत्-प्रकाश-आधारोंके सम्पर्कमें आकर जैसे विभिन्न वर्णवाली दिवायी देती है, वैसे ही एक ही भाव विभिन्न आधारोंके द्वारा उन-उनके अनुकूल रसतत्त्वका अनुभव करवाता है। एक ही रसका जो विभिन्न रूपोंमें आस्वादन है, उसमें आधार-भेदकी यह भाव-विभिन्नता ही कारण है। वैकुण्ठ आदिकी श्रीलक्ष्मी आदि, द्वारकाकी पद्महिणी आदि और विभिन्न-भावसमन्विता श्रीगोपाङ्गनाएँ—सभी इन मूल-महाभावरूपा ह्लादिनी (राधा) के ही विभिन्न-विचित्र विकास हैं। इनमें गोपीभाव परम और चरम त्यागमय होनेके कारण सर्वश्रेष्ठ है।

गोपाङ्गनाओंका स्वरूप

राधामुख्या श्रीगोपाङ्गनाएँ निर्मल प्रेमकी सजीव मूर्तियाँ हैं।

उनके पवित्र प्रेममें उनके लिये कुछ भी शेष नहीं बचता, उनका अपना अस्तित्व भी उनके अपने लिये नहीं रह जाता। वे केवल इतना जानती हैं कि वे श्रीकृष्णकी हैं, उनके देह-प्राण, मन-बुद्धि, अहंकार, आत्मा—सभी श्रीकृष्णके हैं और प्रत्येक स्थितिमें—लोकदृष्टिमें प्रतिकूल-से-प्रतिकूल मानी जानेवाली अवस्थामें भी उन्हें प्रेमास्पद श्रीकृष्णके मधुर प्रेम तथा उनके महान् दिव्य गुणोंके ही सहज मङ्गलदर्शन होते रहते हैं।

श्रीराधा-प्रेमकी विलक्षण उदारता

श्रीराधा महाभावरूपा हैं और बड़ी उदारताके साथ नित्य-निरन्तर भावका प्रवाह बहाती रहती हैं। वे सर्वथा त्यागमयी हैं। उनमें स्वसुखकी वासना है ही नहीं, केवल श्रीकृष्ण-सुख-कामना है। साथ ही वे यह भी चाहती हैं कि 'जैसे मेरे द्वारा प्रियतम श्रीकृष्णको सुख होता है, वैसे ही मेरी कायव्यूहरूपा समस्त गोपाङ्गनाओंके द्वारा भी उन्हें सुख मिले और उनके सुखसे मेरी वे सब सखियाँ भी परम सुखी हों।' वे श्रीकृष्णको केवल अपनी ही वस्तु मानकर उनको अपने ही प्रणयकक्षमें बंद नहीं रखतीं, बल्कि सबके सुखकी वस्तु बनाकर वे सबको सुखी करना चाहती हैं। उनके अनन्त विशुद्ध प्रेममें यह स्वाभाविक उदारता है।

राधा नहीं चाहतीं निज सुख निज प्रियतमसे किसी प्रकार। केवल प्रियतमके सुखसे वे होतीं परम सुखी अविकार ॥ केवल यही चाहतीं, प्रतिफल प्रियतम सुखी रहें अविराम। फल-फल उनको सुखी देखना-करना—यही एक, बस, काम ॥ भक्त-पराधीनता उनका है निर्मल स्वभाव अभिराम। राधा-पराधीन हो रहना लगता उन्हें अतुल सुख धाम ॥ राधा नहीं चाहतीं लेकिन उनपर अपना ही अधिकार। सभी प्राप्त हों प्रियतम-सुखको, करतीं यह अभिलाष उदार ॥ मुकुहस्तसे वितरण करतीं प्रियको, प्रिय-सुखको भर मोद। 'सुखी करो सबको', नित प्रियसे कहतीं कर गम्भीर विनोद ॥ मैं गुणहीन, महीन सर्वथा, क्यों मुझपर इतना व्यामोह। मुझसे सभी अधिक सुन्दर, शुचि, मधुर, शील-सद्गुण-संदोह ॥ प्रेम-रसास्वादन कर सबका, मुझे करो प्रिय। सुखका दान। रससागर। नटनागर। प्रियतम। मेरे एकमात्र भगवान् ॥

कैसा महान् आदर्श त्याग है! इसीलिये रासमण्डलमें असंख्य गोपाङ्गनाओंका समावेश है और असंख्य रूपोंमें—प्रत्येक दो-दो गोपाङ्गनाओंके बीचमें अगणित रूपोंमें प्रकट होकर श्रीकृष्ण उनके विशुद्ध प्रेमका रसास्वादन कर-करा

रहे हैं। श्रीराधारानीकी ही महान् उदारताका यह कैसा विलक्षण आश्चर्यपूर्ण मनोहर फल है!

प्रेममयी ब्रजरमणी-गण-मण्डलमें हुए सुशोभित श्याम। अगणित राशि तारिकामें अकलङ्क पूर्ण विधु विमल ललाम ॥ अथवा नव-नीलाम-श्याम घन दामिनि-दलमें रहे विराज। घन दामिनि दामिनि घन अन्तर अगणित उभय अतुल युति साज ॥

श्रीराधाका यह श्याम-प्रेम सीमित नहीं है। वह अनन्त है और वे उसका वितरण करके परम सुखी होती हैं। वे हर समय सचेत और सचेष्ट रहती हैं कि उनकी सखियाँ भी उन्हींकी भाँति प्रियतम-सुखका आस्वादन करें। प्रत्येक क्षेत्रमें उनका यह सहज उदार स्वभाव क्रियाशील रहता है।

श्रीराधा श्रीकृष्णकी आराधिका भी हैं और आराध्या भी

श्रीभार्द्वाजी कहते हैं—

भेरी राधा ऐसी हैं, जिनके पवित्रतम प्रेमराज्यमें मलिन काम और भोगके कल्पना-लेशका भी कभी कहीं प्रवेश नहीं है। वे विलक्षण शृङ्गार धारण करती हैं, परंतु उसमें कहीं तनिक भी आसक्ति नहीं है; उनका पवित्र करनेवाला प्रेम मोहसे सर्वथा रहित है। उनमें ममता है, परंतु वह स्व-सुख-इच्छासे विरहित है। उनके अपने योगक्षेम पूर्णरूपसे प्रियतम श्रीकृष्णमें समर्पित हैं। वे खाती-पीती हैं, पर स्वादके लिये नहीं। वे अत्यन्त मानवती हैं, किंतु अभिमानसे रहित हैं। उनमें भोगोंका बाहुल्य है, पर भोग-दृष्टिसे वे नित्य भोगरहित हैं। वस्तुतः वे केवल अपने प्रियतमके ही पवित्रतम सुखकी खान हैं। उनका इन्द्रियसमूह, उनका शरीर, उनका मन, उनके प्राण, उनकी बुद्धि और उनका अहं—सभी कुछ प्रियतमके लिये ही हैं। उनसे उनका अपना कुछ भी काम नहीं है, वे सब सदा प्रियतमके कार्यमें ही लगे रहते हैं। श्रीराधासे जगत्में जगत्के सारे व्यवहार होते हैं, पर होते हैं वे सहज ही संयमपूर्ण। उनका किसीसे अपना कोई सम्पर्क नहीं है, केवल प्रियतमका सुख ही उनके जीवनका सार-सर्वस्व है। मेरे जीवनकी साध्य वे त्रिभुवनपावनी श्री-राधा ऐसी हैं, जो नित्यतृप्त भगवान् श्रीमाधवकी भी पवित्रतम परमाराध्या हैं।

मेरी उन राधाके शुचितम प्रेमराज्यमें नहीं प्रवेश। काम-भोगका मलिन, कभी भी किंचित कहीं कल्पना-लेश ॥ रागरहित शृङ्गार अनुठा, मोहरहित है पावन प्रेम। सुख-वाञ्छा-विरहित ममता है, पूर्ण समर्पित योग-क्षेम ॥

स्वादुरहित सब खान-पान हैं, है अभिमान-रहित अति मान ।
भोगबहुलता भोग-रहित नित, प्रियतम-सुखकी शुचितम खान ॥
इन्द्रिय, तन, मन, प्राण, अहं, मति, हैं प्रियतमके लिये तमाम ।
नहीं कार्य कुछ निजका उनसे, करते सब प्रियतमका काम ॥
संयमपूर्ण सहज ही होते जगमें, जगके सब व्यवहार ।
नहीं किसीसे उनका मतलब, प्रियतम-सुख ही केवल सार ॥
मेरी ऐसी हैं वे राधा त्रिभुवन-पावनि जीवन-साध्य ।
नित्य-तृप्त श्रीमाधवकी जो हैं पवित्रतम परमाराध्य ॥

इन श्रीराधाका जीवन परम त्यागमय तथा सर्व-समर्पण-मय है और स्वरूपतः श्रीराधा श्रीमाधवसे सर्वथा अभिन्न रहती हुई ही दिव्य-लीला-विहारिणी हैं ।

वर्तमान युगमें जीवनको ऊपर उठानेके लिये श्रीराधाके त्यागमय चरित्रके अनुशीलनकी परमावश्यकता

मानवके गौरव तथा अभिमानके प्रतीक वर्तमान विज्ञानके विकास-द्युति-सम्पन्न स्वर्णयुगमें अथवा आध्यात्मिक दृष्टिसे प्रायः सर्वत्र विस्तृत तमोमय घोर अज्ञानके युगमें—जिसमें प्रतिक्षण वर्धमान, नित्य अतृप्त भोगलिप्साके प्रभाव तथा मानवोचित त्यागके अभावसे मनुष्य असुर बन गया है—मानवके कर्तव्यपर गम्भीर विचार करना परमावश्यक है । यदि इस पतनके प्रवाहकी गति नहीं रुकी तो पता नहीं, विश्वमानव कितने दीर्घकालके लिये, कितने घोर अन्धकार-गर्तमें गिरनेको बाध्य होगा ।

जलकी धारा ज्वलत प्रवाहित रहती है, उसका गंदापन नष्ट होकर उसका वह जल निर्मल, शुद्ध बनता चला जाता है; परंतु शुद्ध जल भी यदि एक गड्ढेमें भरकर बंद कर दिया जाता है तो वह अत्यन्त मलिन हो जाता है, सड़कर वह गंदे कीड़ोंकी विहार-स्थली बन जाता है और नाना प्रकारके रोग-विस्तारमें कारण बनता है । इसी प्रकार ज्वलत सर्वलोक-कल्याणकारिणी भारतीय आर्य-संस्कृतिके अनुसार मानवकी जीवनधारा—विचार-कर्म-धारा अपने 'अहं'को अखिल विश्व-प्राणियोंके 'अहं'में मिलाकर—अपने 'स्व'को सयमें देखकर सयके सुख-हित-सम्पादनमें अखण्डरूपसे प्रवाहित थी, तबतक सयका कल्याण ही अपना कल्याण समझा जाता था तथा सर्वहितकारी विचार एवं क्रिया-कलाप चलते थे । परंतु जबसे मानवका 'स्व' छोट्टे-से सीमाबद्ध

दायरेमें रुककर संकुचित और सीमित हो गया है, तभीसे उस 'स्व'का अभिलषित 'अर्थ'—'स्वार्थ' भी बहुत ही संकुचित होकर अत्यन्त निम्नस्तरपर आ गया । इसी नीच स्वार्थके कारण सर्वत्र त्यागका अभाव बढ़ता जा रहा है और मनुष्य विभिन्न कारणोंकी उद्भावनामें एक-दूसरेका शत्रु बनकर अपने ही विनाशपर तुल गया है । आज केवल राजनीतिमें ही नहीं, प्रायः सभी क्षेत्रोंमें—हमारा ही जीवन नहीं, व्यक्तिगत जीवनसे लेकर समस्त विश्वगत मानव-जीवनतक प्रायः इसी विनाशकी भयानक भूमिपर आ गया है । इसीलिये लोक-कल्याणकारी विज्ञानका भी मानवकी विपरीतदर्शिनी तामसी बुद्धिके अवाञ्छनीय जन-विध्वंसकारी उद्दण्ड प्रलयकाण्डोंमें प्रयोग किया जा रहा है । ऐसे दुस्समयमें त्यागकी महिमा बतलानेवाले साधनकी—त्यागमय पवित्र चरित्रके अध्ययन, परिचय, दर्शन और तदनुरूप जीवन-निर्माणके पुनीत कार्यकी बड़ी आवश्यकता है ।

आध्यात्मिक जगत्के साधन-क्षेत्रमें तो सर्वोच्च साधन-पदपर समारूढ तीव्र मुमुक्षु—मोक्ष-कामी पुरुष भी बन्धन-मुक्तिके स्वार्थवश मोक्षकी कामना करता है । यद्यपि यह कामना कामना नहीं मानी जाती—वह त्याज्य नहीं, वरं बड़े पुण्यफलोंसे प्राप्त, आदरणीय और वरणीय है, तथापि स्वार्थत्यागकी अत्युच्च भूमिकापर पहुँचनेके लिये इस कामनाका त्याग भी परमावश्यक है । इसके लिये भी ऐसे पुनीत चरित तथा परम पावन साधनके परिचयकी अनिवार्य आवश्यकता है । ऐसा त्यागमय जीवन सर्वत्यागमयी 'श्रीराधाजी' का है और इस प्रकारका साधन स्वसुख-वाञ्छा-कल्याण-लेशगन्धसे शून्य पवित्रतम 'प्रेम' है ।

श्रीराधाजी तथा श्रीगोपाङ्गनाओंके पुनीत चरितमें इसी परम त्यागमय पुनीत साधन तथा साध्यस्वरूपके दर्शन प्राप्त होते हैं । अतएव उसका गम्भीर हृदयसे संयतेन्द्रिय होकर जितना भी स्मरण-चिन्तन-मनन किया जाय, उतना ही मज्जल है ।

'प्रेम' सीमित 'स्व'-रूपको तथा अपने सीमित स्वार्थको भुलाकर प्रेमास्पदके अखण्ड-स्मरण तथा उमीके सुख-हित-सम्पादनरूप स्वार्थमें अपनेको खो देता है, परंतु इतनेपर भी न अभिमान करता है न अहसान । आजका मानव यदि यह पाठ सीख ले तो वह सच्चा धर्मभक्त, जातिभक्त, देशभक्त, विश्वभक्त या विश्वमय प्रभुका अनन्यभक्त बन

सकता है। पर इसके अभावमें आज मनुष्य धर्म, जाति, देश, विद्वत् तथा विश्वात्मा भगवान्‌को भूलकर अपने कल्पित तथा सीमित नाम-रूपके सेवन तथा सुख-हित-सम्पादनमें लगा है, जिसका परिणाम पतन और विनाश है। इसीलिये प्रेम साधनकी आवश्यकता है। इस प्रेम साधनमें संलग्न होनेके लिये मनुष्यको बनना है—सच्चा प्रेमी। अर्थात् एकमात्र प्रेमास्पदको सुखका—सेव्य-सुखका विषय तथा अपनेको एकमात्र उसके सुखका सेवक या सुखका आश्रय बना लेना। इसके लिये राधा-चरित्रके, राधा-जीवनके स्मरणकी, राधाके त्यागमय आदर्श-जीवनके अध्ययनकी आवश्यकता है। इसीलिये इस प्राचीन परम्परागत राधा-प्राकट्य-महोत्सवको नवीन रूपमें मनानेका यह धुत्त प्रयास है। अभी तो केवल विचारमात्र ही है, प्रयासका प्रारम्भ भी नहीं हुआ है। ऐसे प्रयासके लिये राधा-जीवनसे परिचित तथा उसमें श्रद्धा-सम्पन्न प्रयास करनेवालोंकी आवश्यकता है। अभी तो न रङ्गमञ्च है और न अभिनेता ही। केवल बाह्य विचारमात्र है। श्रीराधा इस अभावकी पूर्ति करेंगी, तभी कुछ होगा।

जगत्का कल्याण—जगत्में सुखका विस्तार स्वार्थत्यागसे ही सम्भव है

आज जो समस्त विश्व-मानसमें एक भयानक द्वेष, पर-सुख-असहिष्णुता, भीषण कलह, तथा हिंसाकी आग जल उठी है, एवं पता नहीं, वह कब भयानक मूर्तरूपमें भड़ककर मानवजातिका विनाश कर देगी, इसका प्रधान कारण है—स्वार्थका अत्यन्त संकुचित—सीमित हो जाना, मानवका एक छोटी-सी परिधिमें ही सुखकी कल्पना करना और स्वसुख-वासनाको ही एकमात्र जीवनका ध्येय बना लेना। विश्ववन्धुत्व या विश्वप्रेमकी कितनी ही लंबी-चौड़ी बातें की जायँ, विशाल योजनाएँ बनायी जायँ, सह-अस्तित्व या पञ्चशीलके नारे लगाये जायँ—जबतक मानव परसुखको ही निजसुख नहीं मानेगा, जबतक निजसुखका त्यागी और परसुखका विधायक नहीं बनेगा, तबतक सच्चे अर्थमें विश्वप्रेमका उदय कभी नहीं होगा। हमारी श्रीराधारानीने विश्वके सामने त्यागपूर्ण विशुद्ध प्रेमका जो एक महान् आदर्श उपस्थित किया है, वह अनुलनीय है—अनुपमेष है। उसका तनिक सा भी भाव आजके विश्वमें आ जाय तो अखिल विश्व सुखी हो सकता है।

प्रेमकी आधारशिला और उसकी प्राप्तिके प्रारम्भिक साधन

यह तो विश्वमानवके कल्याणकी बात हुई। पर आजका विषय-वासना-विमुरध, कामोपभोग-परायण, मोहावृत, ईश्वर तथा सत्कर्ममें अविश्वास करनेवाला मानव इस ओर क्यों ध्यान देने लगा? वह तो विनाशको ही विकास माने हुए है। वस्तुतः इस प्रेमकी चर्चा तो करनी है—प्रेमरसकी सच्ची पिपासावाले साधकोंके लिये। यह परम विशुद्ध प्रेम वस्तुतः केवल भगवान्‌में ही हो सकता है और इसका उदय भी उन्हीं सच्चे सौभाग्यशाली व्यक्तियोंके जीवनमें सम्भव है, जो भुक्ति-मुक्तिकी स्पृहाका सर्वथा त्याग करके एकमात्र श्रीराधा-माधव-चरणानुरागके लिये ही जीवनका एक-एक क्षण लगानेको प्रस्तुत हैं।

इस प्रेमका आधार है त्याग—त्याग भी ऐसा-वैसा नहीं, सर्वत्याग-सम्पन्न हो जानेपर बन्धनमुक्तिरूप जिस मोक्षकी प्राप्ति होती है, उस दुर्लभ मोक्षका भी त्याग कर देना पड़ता है। मोक्षका परित्याग या तो जगत्‌के भोगासक्त और पाप-परायण विषयी और पामर लोग करते हैं, या वे करते हैं, जिनको मोक्षसे भी बढ़कर कोई विशेष वस्तु मिल जाती है। वह मोक्षसे भी श्रेष्ठ वस्तु है 'भगवत्प्रेम'। यही पञ्चम पुरुषार्थ है। इसकी प्राप्ति—विशेषतया गोपीभावके रूपमें इस प्रेमकी प्राप्तिके लिये एकान्त अनन्य लालसा, श्रद्धा-विश्वासपूर्ण निश्चयबुद्धि और दृढ़ साधन-प्रवृत्ति होनी चाहिये।

उपसंहार

श्रीराधा श्रीकृष्णकी ही अभिन्नस्वरूपा हैं। भगवान्‌का जो आनन्दस्वरूप है, वही श्रीराधाके रूपमें अभिव्यक्त है। श्रीराधा-श्रीकृष्ण नित्य एक और अभिन्न हैं। श्रीराधा श्रीकृष्णकी प्रेयसी हैं, श्रीराधा श्रीकृष्णकी आराधिका हैं, उनकी भक्ता हैं, श्रीराधा श्रीकृष्णकी आराध्या—उपास्या हैं। श्रीराधा विश्वजननी हैं, विश्वमयी हैं, विश्व-स्वरूपा हैं, विश्वातीता हैं। श्रीराधा योगमाया हैं, दैवीमाया हैं, निजमाया हैं। श्रीराधा श्रीकृष्णकी शक्ति हैं। यह शक्ति ही शक्तिमान् श्रीकृष्णकी आत्मा है। श्रीराधा कवियोंकी काव्यसामग्री हैं। श्रीराधा सबकी आराध्या हैं। श्रीराधा

अनिर्वचनीय हैं, श्रीराधा अचिन्त्य हैं । आज उन्हीं श्रीराधाके परम पावन प्राकट्यकी मङ्गलमयी तिथि है ।

आजका यह मङ्गल दिवस सभीके लिये परम मङ्गलमय, सर्वथा आदरणीय एवं परम सौभाग्यसूचक है; क्योंकि सच्चिदानन्दधन भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति, नित्यलीलमयी, वृषभानुनन्दिनी, कीर्तिदाकुमारी स्वामिनी श्रीराधाजीकी प्राकट्यलीला आजके दिन इस मङ्गलमय मध्याह्नके समय ही हुई थी । जैसे श्रीकृष्ण नित्य सच्चिदानन्दस्वरूप, समस्त अवतारों तथा भगवत्स्वरूपोंके मूल, प्राकृत प्रपञ्चसे अतीत, दिव्यगुण-शक्तिमय तथा सौन्दर्य-माधुर्यके अनन्त निधि हैं, वैसे ही श्रीराधाजी भी नित्य सच्चिदानन्दस्वरूपा, लक्ष्मी-सरस्वती आदि समस्त देवियोंकी भी आदि—मूलस्वरूप, प्राकृत प्रपञ्चसे अतीत, दिव्य गुण-शक्तिमय तथा ऐसे अनुपम अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यकी समुद्र हैं, जो सर्वाकर्षक श्रीकृष्णको भी नित्य आकर्षित किये रहते हैं । वस्तुतः श्रीकृष्ण और श्रीराधामें शक्तिमान् तथा शक्तिके सदृश नित्य अभेद है । एक ही तत्त्व नित्य दो स्वरूपोंमें लीलायमान है ।

श्रीराधाजी भगवान् श्रीकृष्णकी ही अभिन्न मूर्ति हैं । इनकी पूजा सदासे होती आयी है और होनी चाहिये । भारतके जन-जनको चाहिये कि वह सर्वत्र श्रीराधाजन्माष्टमी-व्रत करने तथा महोत्सव मनानेका सत्प्रयास करे । शुद्ध

हृदयमें उत्साहपूर्वक स्वयं मनाये तथा लोगोंको प्रेरणा देकर मनवाये । इसमें उसका और जगत्‌के जीवोंका, जो इस व्रत-महोत्सवका सेवन करेंगे, कल्याण होगा—इसमें कोई भी संदेह नहीं है ।

श्रीराधाके सम्बन्धमें इधर कुछ विदोष चर्चा होने लगी है । देशमें स्थान-स्थानपर श्रीराधाष्टमी-महोत्सव मनाये जाने लगे हैं । राधा साधनाके लिये भी विभिन्न स्थानोंपर विभिन्न प्रकारकी संस्थाओंका निर्माण हुआ है । ये सब शुभ लक्षण हैं ।

शुद्ध भ्रद्धाते में जो कुछ समझ पाया हूँ और भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराधा और श्रीगोपाङ्गनाओंने अनन्त कृपापूर्वक मुझ नगण्यको अपना जैसा—जो कुछ परिचय प्रदान किया है, उसके अनुसार ये कुछ बातें मैंने निवेदन की हैं । आज श्रीराधा-प्राकट्यके इस पवित्र अवसरपर मेरा सबसे विनीत निवेदन है कि सभी तीव्र और अनन्य भ्रद्धा-भक्तिके साथ श्रीराधामाधवकी आराधना-उपासनामें लगनेका निश्चय करें और तदनुसार साधन भी आरम्भ कर दें ।

करी कृपा श्रीराधिका, बिनवाँ बारंबार ।

बनी रहे स्मृति मधुर सुचि मङ्गलमय सुखसार ॥

भ्रद्धा नित बढ़ती रहै, बढ़ै नित्य विस्वास ।

अर्पण हों अवसेप अव जीवन के सब स्वास ॥

श्रीराधारानीके श्रीचरणोंमें कोटि-कोटि नमस्कार !*

* भगवती श्रीराधाजीका प्राकट्य-महोत्सव नयी वस्तु नहीं है । पिछले पाँच हजार वर्ष पूर्व जयसे उनका धराधामपर अवतार हुआ, तभीसे प्रतिवर्ष महोत्सव मनाया जाता है । शास्त्रोंमें यह स्पष्ट आज्ञा है । पुराणोंमें 'पद्मपुराण' अत्यन्त प्राचीन है । उसमें स्पष्ट शब्दोंमें प्रतिवर्ष महोत्सव मनानेका आदेश है तथा उसका महान् फल बतलाया गया है—

प्रत्यन्द्रमेव कुरुते राधाजन्ममहोत्सवम् ।

(पद्मपुराण, उत्तर०, अ० १६३)

अवश्य ही श्रीराधाजीका लीला-सम्बन्ध लौकिक लीलासे कम रहा और भगवान्‌की ह्लादिनी आनन्दरूपा निजशक्ति होनेके कारण उनके आनन्दविधानसे ही विशेष सम्बन्ध रहा; अतः भगवान् श्रीकृष्णकी जैसे विभिन्न रूपोंमें तथा भावोंसे सर्वत्र पूजा-उपासना हुई, उनका प्राकट्य-महोत्सव जैसे सर्वत्र मनाया जाने लगा, वैसा श्रीराधाजीका स्वाभाविक ही नहीं मनाया गया । परंतु भगवत्प्रेमके उच्चतम

साधनराज्यमें तो श्रीराधाजीके दिव्य आदर्शको सामने रखनेकी परम अनिवार्य आवश्यकता है ही; विश्वजगत्के मानवप्राणीके लिये भी पारस्परिक प्रेमकी वृद्धिके हेतु जिस त्यागकी आवश्यकता है और जिसके बिना प्रेम एक केवल मोहका पर्यायवाची बना रहता है, वह त्याग राधाजीके परम त्यागमय जीवनको भी आदर्श मानकर चलनेसे शीघ्र सिद्ध हो सकता है। इसके लिये श्रीराधाजीके दिव्य प्रेमका, दिव्य भावोंका, उनके महान् त्यागका, उनकी दिव्य जीवनचर्याका और उनके स्वरूप-तत्त्वका स्मरण परम आवश्यक है और इसी महान् उद्देश्यको लेकर हमारे परम श्रद्धेय नित्यलीलालीन श्रीभाईजीने लगभग ३० वर्ष पूर्व प्राचीन परम्परागत राधा-जन्म-महोत्सव देशभरमें व्यापकरूपसे मनाये जाने, उनकी महान् शिक्षाका प्रचार-प्रसार करके उसके द्वारा क्षुद्र 'स्व' की सेवामें लगे हुए पशुता तथा असुरताकी ओर जाते हुए अधोगामी मनुष्यको ऊपर उठाकर उसको वास्तविक मानव बनाने तथा साधनाके उच्च स्तरपर पहुँचानेके लिये इस आयोजनका एक महोत्सवके रूपमें अपने यहाँ प्रारम्भ किया था। भगवान् श्रीराधामाधवकी कृपासे इस आयोजनमें उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त होती गयी और यह आयोजन एक साधनाके विशाल बोधिवृक्षके रूपमें परिणत हो गया। इतना ही नहीं, यहाँके महोत्सवसे प्रेरणा ग्रहणकर तथा 'कल्याण' में प्रकाशित इन महोत्सवोंपर दिये गये परम श्रद्धेय श्रीभाईजीके अनुभूतिपूर्ण, सारगर्भित प्रवचनोंसे प्रभावित होकर देशके कोने-कोनेमें श्रीराधारानीका यह प्राकट्य-उत्सव मनाया जाने लगा है। इसकी व्यापकता दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। परिणामस्वरूप श्रीराधारानी तथा श्रीगोपाङ्गनाओंके सम्बन्धमें फैले हुए मोहजनित दुर्भावोंका नाश होकर उनके परमोच्च दिव्य जीवनकी भी झाँकी कहीं-कहीं होने लगी है। आध्यात्मिक जगत् परम श्रद्धेय श्रीभाईजीके इस परम पावन प्रयासके प्रति सदा ऋणी रहेगा।

अपने निवासस्थान, गीतावाटिकामें प्रतिवर्ष होनेवाले इस श्रीराधाजन्म-महोत्सवपर परम श्रद्धेय श्रीभाईजी बराबर दो प्रवचन करते रहे हैं—एक दिनमें और दूसरा रात्रिमें। इस वर्ष उनके नित्यलीलालीन हो जानेके कारण उत्सवका यह परमोपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण अङ्ग खण्डित रहा (यद्यपि दोनों समय टेपरेकार्डरद्वारा संगृहीत उनके गत वर्षके प्रवचन सुनाये गये) तथा उत्सवमें सम्मिलित होनेवाले श्रीराधाभक्त उनकी परम पावन, प्रेरणादायक संनिधिसे भी वञ्चित रहे। श्रीभाईजीके वे लिखित प्रवचन गत १५-१६ वर्षोंसे 'कल्याण'में भी नियमपूर्वक छपते रहे हैं। इस वर्ष उनके स्थानपर श्रीभाईजीके पिछले कुछ प्रवचनोंका सार एवं मार्मिक अंश संग्रह करके एक लेखके रूपमें ऊपर दिया गया है। उत्सव भी प्रतिवर्षकी परम्पराके अनुसार बड़े ही समारोह एवं उत्साहके साथ मनाया गया, यद्यपि उसपर श्रीभाईजीके वियोगजन्य दुःखकी छाया अवश्य थी। फिर भी हमारा विश्वास है कि श्रीभाईजी अमूर्त्त रूपसे अवश्य उत्सवमें सम्मिलित रहे। श्रीराधारानीने चाहा तो आगे भी प्रतिवर्ष श्रीराधा-जन्म-महोत्सव गोरखपुरमें इसी प्रकार मनाया जाता रहेगा। हमारी श्रीराधारानीके भक्तोंसे विनम्र प्रार्थना है कि वे अपने-अपने स्थानपर करें। साथ ही परम भागवत श्रीभाईजीद्वारा प्रचारित साधना-जगत्की एक महती परम्पराको अक्षुण्ण बनाये रखनेमें अपना सहयोग प्रदानकर पुण्यके भागी बनें।

—चिम्मनलाल गोस्वामी

उपपुराणोंकी समस्या और श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण

(लेखक—पं० श्रीमानकांताधरजी शर्मा)

[गताङ्क पृष्ठ १०४९ से आगे]

१३-तुलनात्मक अध्ययन

(२) अं० १३३-१४० अ० २२८-२३५

(क) अग्निपुराण और श्रीविष्णुधर्मोत्तर

अग्निपुराण ढवाँ महापुराण कहा जाता है—और 'कल्याण'के पिछले दो विशेषाङ्कोंमें इसका पूरा अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। विषयको समझनेके लिये इसमें टिप्पणियाँ भी प्रचुर संख्यामें दी गयी हैं। जहाँ विषय संक्षिप्त था, अनुवादक (पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री) ने बड़े श्रमसे दूसरे ग्रन्थोंका सहयोग लिया है। उदाहरणके लिये धनुर्वेद, राजनीति, कर्मकाण्ड, मन्त्र आदिके अंश द्रष्टव्य हैं। अनुवादमें सोमशम्भुकी कर्मकाण्डक्रमावली, शारदातिलक, ईशानशिव-गुरुदेवपद्धति, अपराजितपृच्छा-जैसे श्रेष्ठ ग्रन्थोंकी पूरी सहायता ली गयी है। वास्तवमें ये दोनों अङ्क 'कल्याण' के शक्ति-अङ्क, योगाङ्क, कृष्णाङ्क, शिवाङ्क आदिकी कोटिके या सर्वोत्तम संग्राह्य विशेषाङ्कोंमेंसे हैं और शोधकर्ताओंके लिये बड़े कामके ग्रन्थ होंगे और पीछे इनका मिलना भी कठिन हो जायगा, यद्यपि इसमें विष्णुधर्मोत्तरका पूरा उपयोग नहीं हो पाया।

जब शास्त्रीजी अग्निपुराणपर काम करने यहाँ पधारे थे, तब मैंने उन्हें एक सूची भिजवायी थी; पर वह बीचमें ही खो गयी और उन्हें मिली नहीं। इसमें दोनोंके तुलनात्मक श्लोक, अध्यायोंका बड़े श्रमसे उल्लेख किया गया था। यहाँ तो कुछ थोड़े-से ही अध्याय दिये जा रहे हैं। अग्निपुराणके १५१-१७२ तकके अध्याय विष्णुधर्मोत्तर, खण्ड २, अ० ७६-१२४ तक मिलते हैं। इसी प्रकार २१८ से २४५ तक भी प्रायः विष्णुधर्मोत्तर २। १०५ से १६० तक मिलते जाते हैं। ये विषय विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें विस्तारसे एवं अग्नि-पुराणमें संक्षेपसे निरूपित हैं—

(ख) वि० ध० म० पु०

(१) अ० १११-११९	अ० १९५-२०३	प्रायः सर्वथा मिलते हैं
" " १४८-१५२	" ११५	"
(२) " २४-२८	" २१५-२१९	"
(२) " ६६-७०	" २२१-२५	"

इत्यादि।

(ग) श्रीविष्णुधर्मोत्तर और भरतनाट्यम्

इसी प्रकार श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराणके खण्ड ३, अध्याय २४से ३१तक 'भरतनाट्यम्'के अध्याय ६ से ९तकसे मिलते हैं।

(घ) श्रीविष्णुधर्मोत्तर और मन्वादि धर्मशास्त्र

इसी प्रकार मनुस्मृतिके पूरे २ से ६ अध्यायतकके प्रायः सभी श्लोक श्रीविष्णुधर्मोत्तरके दूसरे खण्डमें प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तरके २। ७२ एवं १०५वें अध्यायमें याज्ञवल्क्यस्मृतिके पहले अध्यायका अंश और श्रीविष्णुधर्मोत्तर ३। ३२४-२५ का अंश नारदस्मृति अध्याय १ से ४ तक मिलता है।

इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तरके रत्नपरीक्षा-प्रकरण, अश्व-वैद्यक, गजवैद्यक, राजनीति, धनुर्वेद, शास्त्राल्लविद्या, ग्रह-निर्माण-कला आदि अंश युक्ति-कल्पतरु, शैवरत्नाकर, अर्थशास्त्र, अपराजितपृच्छा आदि पूर्वोक्त ग्रन्थोंमें प्राप्त होते हैं, जिनका विस्तारभयसे यहाँ वर्णन नहीं किया जाता।

१४-ग्रहकक्षाएँ ज्योतिर्विज्ञानानुसार ही

विष्णुधर्मोत्तरके अनुसार चन्द्रमा पृथ्वीके सर्वाधिक समीप, उसके ऊपर बुध फिर शुक्र, फिर क्रमशः सूर्य, मङ्गल, गुरु, शनि, अश्विन्यादि नक्षत्र, सप्तर्षि तथा ध्रुव आदि हैं। इसे ही आजका ज्योतिर्गणित तथा विज्ञान भी मानता है—

सप्तर्षिमण्डलं नित्यं तस्याधस्तात्प्रकीर्तितम् ।
... .. तस्याधस्ताच्छनैश्चरः ॥

तस्याधस्तात्तथा जीवस्तस्याधस्तात्कुजः स्मृतः ।

तस्याधस्ताद्दिनेशश्च तस्याधस्ताच्च भार्गवः ।

तस्याधस्ताद्बुधः प्रोक्तस्तस्याधस्ताच्च चन्द्रमाः ॥

(श्रीविष्णुधर्मोत्तर १। १०६। २१-२५)

१५-महत्त्वपूर्ण उपदेश

यों तो यह समूचा पुराण ही बड़े महत्त्वका है, पर इसके कुछ उपदेश तो अत्यन्त ही महत्त्वके हैं। जैसे—

लोकेश्वर भगवान् मधुसूदनके (ज्ञान-वैराग्यसम्पन्न सच्चे) भक्तोंको राजा, चोर, अग्नि, सर्प एवं ब्राह्मणादि (के शाप) से एवं ग्रह-यम-शत्रुजनित भय नहीं होते—

पृथ्वीशतस्करभुजंगहुताशविप्र-

दुःस्वप्नदुष्टग्रहमृत्युसपत्नजातम् ।

संविद्यते नहि भयं भुवनेशभर्तु-

भक्ताश्च ये मधुरिपोर्मनुजेषु तेषु ॥

(२ । १२२ । ३५)

प्रातःकाल उठकर भगवान्का स्मरण करनेसे सारे पाप नष्ट होकर भावी दिन मङ्गलमय वीतता है—

शयनादुत्थितो यस्तु कीर्तयेन्मधुसूदनम् ।

कीर्तनात्तस्य पापानि नाशमान्यन्त्यशेषतः ।

अहोरात्रस्य शान्तिश्च तथा तेन कृता भवेत् ॥

(वही, २ । ३४१ । ३२—३४)

१६-इसके अनुवादादि

इसके चित्रसूत्र-अंशका अंग्रेजी अनुवाद स्टीला कमरिशने किया एवं उसे प्रकाशित कराया है।

१७-उपसंहार

(क) *अकारादि-क्रमसे सब उपपुराणोंकी तालिका—

१-अङ्गिरापुराण, २-आखेटकपुराण, ३-आदिपुराण, ४-आदित्यपुराण, ५-उशनःपुराण, ६-एकपादपुराण, ७-एकाम्रपुराण, ८-कपिलपुराण, ९-कल्किपुराण, १०-कालिका-पुराण, ११-क्रियायोगसार, १२-गणेशपुराण, १३-गरुड-

पुराण†, १४-तत्त्वसारपुराण, १५-देवीपुराण, १६-दोर्वासस पुराण, १७-धर्मपुराण, १८-नन्दि या नन्दीश्वरपुराण, १९-नरसिंहपुराण‡, २०-नारदपुराण, २१-परानन्दपुराण, २२-पराशरपुराण, २३-पाशुपत, २४-प्रभासपुराण, २५-बृहद्धर्मपुराण, २६-बृहद्धर्मोत्तरपुराण, २७-बृहन्नन्दीश्वर-पुराण, २८-बृहन्नरसिंहपुराण, २९-बृहन्नारदीयपुराण, ३०-भविष्योत्तरपुराण, ३१-(देवी) भागवतपुराण, ३२-भार्गवपुराण, ३३-मरीचिपुराण, ३४-महाभागवतपुराण, ३५-मानवपुराण, ३६-माहेश्वरपुराण, ३७-मुद्गलपुराण, ३८-रेणुकापुराण, ३९-लघुनारदपुराण, ४०-लीलावती-पुराण, ४१-वसिष्ठपुराण, ४२-वह्निपुराण, ४३-वायु या वायवीयपुराण, ४४-वारुणपुराण, ४५-विष्णुधर्मपुराण, ४६-(श्री) विष्णुधर्मोत्तरपुराण, ४७-विष्णुरहस्य-पुराण, ४८-शिवपुराण, ४९-शिवधर्मोत्तरपुराण, ५०-सनत्कुमारपुराण, ५१-साम्प्रपुराण, ५२-सौरपुराण, ५३-स्कन्दपुराण, ५४-हंसपुराण और ५५-हरिवंशपुराण।

लोजनेपर निबन्धग्रन्थोंमें इनके अतिरिक्त कुछ और भी नाम मिलेंगे। १८ महापुराण, उतने ही अतिपुराण और उतने ही पुराण (इनकी नामावली स्कन्दपुराणाङ्क पृ० ७ पर है)। स्थलपुराण, जैनियोंके - पुराण, अपभ्रंशभाषाके पुराणादि इनसे सर्वथा भिन्न हैं। इससे ज्ञात हो सकता है कि पुराण-साहित्यराशि कितनी विशाल और लोकप्रिय थी और विधर्मियोंके द्वेषसे वह शतियोंतक नष्ट की जाती रहकर अब नगण्य संख्यामें शेष रह गयी है, जिसके पुनः संस्करणकी कोई आशा नहीं दीवती। इस दिशामें ईश्वरके अनुग्रहमें ही कुछ होना शक्य है और उन्हींकी कृपासे नष्टप्राय नरसिंहपुराणका इस वर्ष 'कल्याण' में प्रकाशन होकर, किसी प्रकार उसकी रक्षा हुई और व्यापक प्रचार हुआ।

(समाप्त)

* इस सूचीमें आये हुए अधिक नाम एकाम्रपुराणके (अध्याय १, श्लोक २० से २३) में लिये गये हैं।

† इसे भी एकाम्रमें उपपुराण मान लिया है।

‡ इसके अगणित वचनोंको पीछेके निबन्धकारोंने दिया है, जिन्हें श्रीहाजराने बड़े ही श्रमसे संगृहीत कर प्रदर्शित किया है

वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता

(लेखक—श्रीनीरजाकान्तजी चौधरी 'देवशर्मा')

त्रिमुनि-व्याकरण

'कल्याण' के पिछले अङ्कोंमें यह बतलाया जा चुका है कि ईसासे पूर्व पाँचवीं शताब्दीमें महाकवि भासने अपने नाटकोंकी रचना की थी। उस समय शास्त्रानुसार वर्णाश्रम-व्यवस्था भारतमें सर्वत्र सगौरव वर्तमान थी। इस लेखमें इस सम्बन्धमें उससे भी प्राचीन कालके प्रमाण देनेकी चेष्टा की जा रही है।

पाणिनि-प्रणीत अष्टाध्यायी, उसपर कात्यायनका वार्तिक तथा पतञ्जलिका महाभाष्य—ये तीनों मिलकर त्रिमुनि-व्याकरणके नामसे प्रसिद्ध हैं। लौकिक संस्कृत भाषा और साहित्यपर इन व्याकरणोंका प्रभाव एवं अवदान अननुमेय एवं अनस्वीकार्य है।

पातञ्जल-महाभाष्य एक विराट् ग्रन्थ है। वह इन तीनोंमें सर्वापेक्षा अर्वाचीन है। मौर्य चन्द्रगुप्त एवं पुष्यमित्र शुङ्गका उल्लेख उसमें मिलता है। प्रसिद्ध है कि ये पतञ्जलि पुष्यमित्रके अश्वमेधयज्ञमें प्रधान पुरोहित थे। अतएव मोटा-मोटी उनका समय ईसापूर्व तीसरी शताब्दीसे दूसरी शताब्दी-के प्रथम भाग—२४०से १६० वर्षतक निश्चित किया जा सकता है।

कात्यायन मुनिने प्रायः ४२६३ वार्तिकोंमें अष्टाध्यायीके ३९९५ सूत्रोंकी व्याख्या की है। वे पाटलिपुत्रके किसी भी नन्दवंशी सम्राट् के मन्त्री थे। राजस्थानके सीमान्तमें सैन्धव नमकके पहाड़ हैं। अलेक्जेंडरके भारत-आक्रमणके समय श्वभूति नामक राजा उस देशपर शासन करते थे। कात्यायन श्वभूतिके गुरु थे, ऐसा प्रवाद है। अतएव वे अनुमानतः ईसापूर्व ३७०—२९० वर्ष अर्थात् चौथी-तीसरी शताब्दीमें वर्तमान थे।

कात्यायनसे पहले और भी कई व्यक्ति अष्टाध्यायीके भाष्यकारोंके नामसे प्रसिद्ध थे, किंतु उनके ग्रन्थ अब लुप्त हो गये हैं। सम्भवतः और भी भाष्य होंगे; परंतु उनके नाम हमें मालूम नहीं हैं।

पाणिनिकी अष्टाध्यायी वर्तमानकालमें उपलब्ध संस्कृत व्याकरणोंमें ही नहीं, सुतरां समग्र पृथ्वीके व्याकरणोंमें सर्व-

प्राचीन व्याकरण है। पाणिनिने अपने सूत्रोंमें अपने पूर्ववर्ती कई प्रसिद्ध व्याकरणाचार्योंके नामोंका उल्लेख किया है। ये हैं—आपिशलि, चक्रवर्मा, शाकल्य, स्फोटायन, काश्यप, गार्ग्य, गालव, शाकटायन, सेनक एवं भारद्वाज। इनके अतिरिक्त भागुरि, काशकृष्ण, व्याडि आदि व्याकरण-शास्त्रियोंके नाम भी उन्हें ज्ञात थे। दैव-व्याकरणोंमें माहेश और ऐन्द्र ही प्रधान थे। कहना न होगा कि इन सबमें अब कोई भी ग्रन्थ नहीं मिलता।

विदेशी अनुगंधाताओंके मतमें पाणिनि ईसापूर्व चौथी शताब्दीके हैं। किंतु वस्तुतः वे कात्यायनके बहुत पहलेके हैं; क्योंकि पाणिनिके बाद तथा कात्यायनके पहले अष्टाध्यायीके अनेक भाष्यकार थे।

नेहरूजीने अपनी 'Discovery of India' नामक पुस्तकमें लिखा है कि पाणिनिने बुद्धसे पहले अपने व्याकरणकी रचना की थी। गोल्डस्टुकर (Goldstucker) के मतसे ईसाके ७०० वर्ष पहलेका समय पाणिनिका समय है। पण्डितवर्य गुरुपद हलदारने विशद आलोचनाके पश्चात् यह सिद्धान्त निश्चित किया है कि पाणिनि ईसापूर्व नवीं शताब्दीके बादके तो हो नहीं सकते, बल्कि वे उसमें भी बहुत पहलेके हैं।

पाणिनिकी 'शिक्षा' उनकी रची हुई अष्टाध्यायीकी तरह वेदाङ्गके रूपमें परिगणित हुई है। उसमें वेदमन्त्रों एवं ब्राह्मणोंके उदात्त, अनुदात्त, स्वरित उच्चारण कैसे होते हैं इसके चिह्न दिये गये हैं। इसलिये अनेक पाश्चात्य लेखक भी यह सोचते हैं कि वे वेदके ब्राह्मणभागके समकालीन थे। पाणिनि एकमात्र व्याकरणके ही श्रेष्ठ पण्डित हों, ऐसी बात नहीं है, उच्चारण-विज्ञानपर भी उनका अधिकार था। फलतः वे ध्वनि-शास्त्र (Phonetics) के भी विशिष्ट आचार्य थे। यह ध्वनि-तत्त्व वैदिक शास्त्रको समझने और उसका पाठ करनेका अपरिहार्य अङ्ग है।

'शिक्षापञ्जिका' के 'शंकरः शंकरां प्रादात्' इत्यादि श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। भगवान् शंकरने तपस्यामें संतुष्ट होकर महर्षि पाणिनिको डमरु-ध्वनिके द्वारा किस प्रकार

१. 'व्याकरण-दर्शनेर इतिहास' (पृष्ठ २५ से)।

शिवसूत्र दिये थे, उसका इसमें वर्णन है। ये शिवसूत्र संख्यामें केवल चौदह हैं। भाषा अति संक्षिप्त है। यथा 'लण्'। नन्दि-भाष्यमें ज्ञात होता है कि इन शिवसूत्रोंका गम्भीर आध्यात्मिक अर्थ भी है। प्रो० फैंडेगन (Prof. S. Laddegon) साहयने शिवसूत्रके ध्वनि-तत्त्वकी बड़ी प्रशंसा की है। 'शिवसूत्र' स्वयं महादेवने पाणिनिको प्रदान किये, यह बात अलौकिक होनेपर भी अति प्राचीन एवं विख्यात है। आयुर्वेद आदि अन्यान्य विद्याओंकी तरह व्याकरण भी शिव-प्रसाद है। शिव-प्रणीत 'महिेश व्याकरण' आदि व्याकरण-ग्रन्थके नामसे विख्यात है; किंतु आज वह प्राप्त नहीं है।

वेदाङ्ग छन्दःशास्त्रका पथिकृत् पिङ्गलाचार्यप्रणीत 'शिक्षाप्रकाश'में उल्लेख है। वे पाणिनिके भाई थे। पिङ्गलाचार्य जनमेजयके सर्पयज्ञमें ऋत्विक् थे, यह लोकश्रुति है। इसके सत्य होनेपर पाणिनिका समय, अनुमानतः ईसापूर्व ३००० अथवा अन्ततः ईसापूर्व १४०० ठहरता है।

अष्टाध्यायी प्राचीनतम व्याकरणमात्र ही नहीं है, बल्कि इसने पृथ्वीपर सर्वश्रेष्ठ व्याकरणके रूपमें चिरकालसे अधिकार कर रखा है, यह निःसंदेह है। अन्यान्य भाषाओंकी वर्णमालातक विज्ञानसम्मत तथा सुसम्बद्ध नहीं है। अंग्रेजी वर्णमालामें सिर्फ २६ अक्षर हैं, जो कि विशृङ्खलित रूपसे रखे गये हैं। हिब्रूमें स्वरवर्ण नहीं है, यही कहना होगा। अरबी-फारसीकी भी प्रायः यही स्थिति है। नुक्ता (बिन्दु) लगाकर ही काम चलाया जाता है। चीनी भाषामें अक्षर नहीं हैं, है चित्रलिपि (Pictogram)। प्राचीन मित्रदेशके विषयमें भी यही बात है। सुतरां, अन्यान्य भाषाओंमेंसे कोई-सी भी (महाभारतके श्लोकमें म्लेच्छ भाषाको 'प्रलाप' कहा गया है) देवभाषा संस्कृतकी वर्णमाला, उच्चारण या व्याकरणकी तुलनामें ठहर नहीं सकती; पाणिनिके व्याकरणका तो प्रश्न ही अलग है।

पाश्चात्य समालोचकोंने एकमत होकर अष्टाध्यायीकी प्रशंसा की है। उनके मतसे भी यह जगत्को दिया गया एक श्रेष्ठ अवदान है। यह अतुलनीय है। कुछ लोगोंके मत यहाँ दिये जा रहे हैं।

अष्टाध्यायीमें समकालीन भारतीय समाज-व्यवस्थाके जो चित्र मिलते हैं, उनसे पता चलता है कि पाणिनिके युगमें वर्णाश्रम-धर्म पूर्णरूपसे वर्तमान था। जन्मद्वारा ही त्रिवर्णके धर्म-कर्मोंके अधिकार आदि निरूपित होते थे।

ब्राह्मोऽर्जातौ। ६। ४। १७१

भाष्य—ब्रह्मणोऽपत्यमित्यण् । जातौ स्वपत्ये ब्राह्मण इतीष्यते । अनपत्ये तु जातौ ब्राह्मी ओपधिरिति टिलोप इष्यते ।

1. "Panini's book is something more than a mere grammar. It has been described by the Soviet Professor Th. Steherbatsky of Leningrad as one of the greatest productions of the human mind."
—Nehru, *Discovery of India*, 89

"The grammar of Panini is one of the most remarkable literary works that the world has ever seen, as no other country can produce any grammatical system at all comparable to it, either for originality of plan, or analytical subtlety."

—Sir M. Williams, *Indian Wisdom*, 72.

"The grammar of Panini stands supreme among the grammars of the world, alike for the precision of statement and for its thorough analysis of the rules of the language, and of the formative principles of words.....
.....It stands forth as one of the most splendid achievements of human invention and industry."

—Sir W. W. Himler, *Imperial Gazetteer of India*, 'India', 214.

नेहरूजी 'Discovery of India' नामक पुस्तकमें लिखते हैं कि "पाणिनिका ग्रन्थ निरा व्याकरण नहीं है, कुछ और भी अधिक है। लेनिनग्रेडके सोवियत अध्यापक शर्वाट्रिक उसका मानव-मस्तिष्कको एक सर्वश्रेष्ठ उपजके रूपमें वर्णन करते हैं।"

सर मोनियर विलियम्स 'इण्डियन विजडम' नामक पुस्तकमें कहते हैं कि 'पृथ्वीपर समय-समयपर जिस सर्वोपेक्षा असाधारण साहित्यका सृजन हुआ है; पाणिनि-व्याकरण उनमेंसे एक है; क्योंकि दूसरे किसी भी देशमें विषय-विन्यासकी मौलिकता एवं पुञ्जानुपुञ्ज विचारोंकी दिशामें जिसका इसके साथ तुलना की जा सके, ऐसी कोई भी व्याकरणकी पद्धति नहीं दिखायी देती।'

सर विलियम हंटर 'इम्पिरियल गजेटियर' ग्रन्थमें अपना मत प्रकट करते हैं कि 'पाणिनिका व्याकरण पृथ्वीके सभी व्याकरणोंमें सर्वश्रेष्ठ स्थानपर अधिकार किये बैठा है। वक्तव्य विषयकी यथार्थता-में, भाषाके नियमोंके सम्बन्धमें, अत्यन्त सूक्ष्म विचार तथा शब्दोंकी व्युत्पत्ति-सम्बन्धी पद्धति—इन सभी बातोंमें यह सर्वश्रेष्ठ है। ... मानवके आविष्कार तथा परिश्रमके निदर्शनकी यह एक सर्वोपेक्षा गौरवमय कीर्ति है।'

इस सूत्रका अर्थ है—

ब्राह्मणवर्णके आदिपुरुष ब्रह्मासे 'ब्रह्मन्' शब्द बना है। 'ब्रह्मन्' शब्दका अर्थ भी 'ब्राह्मण' है। 'ब्रह्मन्' शब्दके आगे 'अपत्य' अर्थमें 'अण्' प्रत्यय करनेपर जातिपरिचायक 'ब्राह्मण' पद बनता है। किंतु अपत्यवाची न बनाकर सिर्फ जातिवाची बनानेके लिये 'अण्' प्रत्यय करनेसे निपातन द्वारा 'ब्राह्म' पद ही बनेगा, 'ब्राह्मण' नहीं होगा। 'ब्राह्म'का अर्थ है—ब्रह्मसम्बन्धी अथवा ब्रह्म-प्राप्तियोग्य। यथा—ब्राह्मनारद, ब्राह्ममुहूर्त। इसका स्त्रीलिङ्ग 'ब्राह्मी' होगा। यह एक प्रकारकी ओषधिका नाम है।

इस सूत्रसे पता चलता है कि 'ब्रह्मन्'से बना हुआ 'ब्राह्मण' पद भी 'ब्रह्मन्' शब्दका समानार्थी है और यह मूलतः ब्राह्मणवर्णका वंशानुक्रमिक जातिवाचक है।

अतएव ब्राह्मण पुरुष ब्राह्मण पिता-मातासे जन्म लेनेपर ही ब्राह्मण वर्ण और पदवी पाता है। गुण अथवा कर्मानुसार कोई ब्राह्मण नहीं हो सकता, यह बात 'ब्राह्मण' शब्दके धातु-प्रत्ययगत व्याकरणसम्मत अर्थद्वारा स्वतः सिद्ध है। पाश्चात्य गवेषक तथा उनका अनुकरण करने-वाले एतद्देशीय किसी-किसीने 'ब्राह्मण'का अर्थ विद्वान्, पुरोहित, मुनि आदि किया है; किंतु उनकी यह उक्ति भ्रान्त तथा सम्भवतः अभिसंधिप्रणोदित है। संस्कृत व्याकरणके नियम एवं युक्तियाँ अकाट्य एवं अलङ्घनीय हैं। इसलिये किसीको इच्छा या सुविधानुसार उनमें हेरफेर करनेका अधिकार नहीं है।

पाणिनिके सूत्र तथा उनके भाष्यसे यह स्पष्टरूपसे समझमें आता है कि 'ब्रह्मन्' एवं उससे 'अण्' प्रत्यय-निष्पन्न 'ब्राह्मण'—इन दोनों ही शब्दोंसे मूलतः एक विशिष्ट जातिके पुरुषोंका बोध होता है और वे वंशानुक्रममें जन्मद्वारा ही ब्राह्मणवर्ण एवं पदवी लाभ करते हैं। 'ब्राह्मण' कहलानेके लिये पिता-माता दोनोंको ही ब्राह्मण होना चाहिये। किसी विशिष्ट गुण अथवा कर्मके फलस्वरूप कोई ब्राह्मण नहीं हो सकता।

२. राजश्चक्षुरादृत्य। (४।१।१३७)

'राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणम्।' (वार्तिक)

राज्ञः अपत्यम्=राजन्+यत्=राजन्य।

इस सूत्रका अर्थ है—'क्षत्रियजातौ राजन्यशब्दस्य प्रयोगः, वैश्ये शूद्रे वा राजापत्ये राजन शब्दप्रयोगः—प्रदीप। 'राजन्' शब्दका अर्थ है—क्षत्रिय। उसके आगे अपत्यार्थमें 'यत्' प्रत्यय होता है। वार्तिककार कहते हैं—'क्षत्रिय जातिका बोध करानेके लिये उससे 'राजन्य' पद निष्पन्न होता है। किंतु क्षत्रिय जातिका बोध करना अभिप्रेत न होनेपर 'राजन्य' न होकर 'राजन' बनेगा। 'राजन्य' शब्दका अर्थ है क्षत्रिय पिता-माताकी संतान। किंतु 'राजन्' अर्थात् क्षत्रिय पुरुषकी वैश्य अथवा शूद्रा स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न पुत्र क्षत्रिय नहीं कहलाकर 'राजन' कहलायेगा। एक ही प्रकृतिसे निष्पन्न होनेपर भी 'राजन्य' नहीं होगा।

अतएव 'राजन' एवं 'राजन्य' दोनों शब्द एकार्थक होनेपर भी क्षत्रिय पिता-मातासे उत्पन्न क्षत्रियवर्णके पुरुषका ही 'राजन्य' शब्दसे बोध होगा।

पाश्चात्य गवेषकगण तथा उनके अनुयायी इस देशके निवासी कोई-कोई ऐतिहासिक अनार्य हूण, शक आदिको राजपूतोंका वंशधर मानते हैं; किंतु खोज करनेसे यह समझमें आ जायगा कि राजपूतगण क्षत्रिय हैं। 'राजपुत्र' का ही अपभ्रंश 'राजपूत' हो गया है। 'राजपुत्र' शब्द 'क्षत्रिय' अर्थमें संस्कृत-साहित्यमें अनेक स्थानोंपर व्यवहृत हुआ है। महाभारतमें द्रौपदी 'हे राजपुत्रि' कहकर सम्बोधित की गयी है।

कौरव, पाण्डव, यादव, सूर्यवंश आदि कुलोंके प्रदीप-रूप शूरवीर क्षत्रियगण अब भी भारतमें सर्वत्र फैले हुए हैं। पण्डितप्रवर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर ओझाने अपनी गवेषणाद्वारा अनेक राजपरिवारोंके प्रकृत इतिहासका उद्धार किया है। राजस्थान पृथ्वीमें एक विशिष्ट भूमि है। यह देश नाना वाधा-विपत्तियोंमेंसे गुजरनेपर भी प्रधानतः क्षत्रिय वीर-गणोंके शौर्य-वीर्यके प्रभावसे प्रायः चिरस्वाधीन बना हुआ था। पठानों, मुगलों एवं अंग्रेजोंका आक्रमण तथा शासन क्षत्रियराजगणोंके राजत्वको सम्पूर्ण विध्वस्त नहीं कर सका। ताम्रशासन, शिलालेख आदिसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि राजपूत जाति शक, हूण, गुर्जर आदि बहिरागत किसी जातिके मिश्रणसे उत्पन्न एक नूतन समाज नहीं है। यह अपवाद हिंदू जातिकी पराधीनताको प्रमाणित करनेके लिये एक धूर्ततासे प्रेरित मिथ्या कौशलभर है।

—कमशः

अब्दुरहीम खानखानाका भक्ति-भाव और हिंदुत्व-प्रेम

(लेखक—डॉ० श्रीबालकृष्णजी 'अकिञ्जन' एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

सम्राट् अकबरकी हिंदुओंके प्रति उदार नीति प्रसिद्ध है। उसीके स्वरूप उनके राजत्वकालमें हिंदुओंकी सामाजिक एवं राजनीतिक स्थितिमें आशातीत सुधार हुआ। हिंदू न केवल अकबरी दरबारके नवरत्नोंमें सुशोभित थे, अपितु राज्यका बड़े-से-बड़ा दायित्व भी सँभालते थे। माल, आन्तरिक प्रबन्ध तथा सेना-जैसे महत्वपूर्ण विभागोंमें टोडरमल, बीरबल तथा मानसिंह-जैसे व्यक्ति प्रतिष्ठित थे। सर्वोच्च पदोंपर इस सबके परिणामस्वरूप एक पारस्परिक सहयोग एवं सद्भावका वातावरण तैयार हुआ और नयी पीढ़ीको धार्मिक कटुतासे मुक्त एक खुले वातावरणमें जीनेका अवसर प्राप्त हुआ। रहीम (दिसम्बर १५५६ से मार्च-अप्रैल १६२७) ऐसे ही वातावरणकी उपज थे। वे जन्मसे मुसल्मान थे और अन्ततः मुसल्मान ही रहे। इस्लाम-हितके कार्य भी वे निरन्तर करते रहे। उन्होंने मक्काके यात्रियोंके लिये करमुक्त जहाज चलानेकी योजना बनायी और मस्जिदोंके लिये नाना प्रकारकी सुविधाओंकी व्यवस्था की। परंतु उनके व्यक्तित्व एवं कृतियोंके अध्ययनसे स्पष्ट हो जाता है कि हिंदू एवं हिंदुत्वके प्रति उनके मनमें महान् आस्था थी।

उनके श्लोकोंको पढ़कर प्रतीत होता है, जैसे रहीम स्वयं भगवान् राम तथा कृष्णकी मूर्तिके चरणोंमें करबद्ध उपस्थित होकर उनसे भक्त-सुलभ नाना तर्कोंद्वारा अपने उद्धारकी याचना कर रहे हों—

आनीता नटवन्मया तव पुरः
श्रीकृष्ण या भूमिका ।
प्रीतस्त्वं यदि चेन्निरिक्ष भगवन्
स्वप्रार्थितं देहि मे ॥

‘मैंने एक अभिनेताकी भाँति अनन्त जन्मोंमें विभिन्न शरीररूप वेश धारणकर तुम्हारे सामने जो खेल दिखाये हैं, उनसे हे श्रीकृष्ण ! यदि तुम प्रसन्न हो तो कृपा करके मेरी ओर निहार भर लो और मुझे वही दो, जो तुम्हें अभीष्ट हो।’

राधागृहीतमनसेऽमनसे च तुभ्यं
दत्तं मया निजमनसविदं गृहाण ॥

‘श्रीकृष्ण ! यह मेरा मन तुम्हें अर्पित है, इसे तुम

स्वीकार करो; कारण, तुम्हारा मन तो श्रीराधारानीने चुरा लिया है, अतः तुम्हारे पास मन नहीं रह गया है।’

अहं चित्तेनादमा पशुरपि तवार्चादिकरणे
क्रियाभिश्चण्डालो रघुवर न मामुद्धारसि किम् ।

‘श्रीरघुनाथजी ! मेरा चित्त पत्थरकी तरह कठोर है, तुम्हारे अर्चन आदिके विषयमें मैं पशुके तुल्य सर्वथा अज्ञ हूँ और कर्मोंसे मैं चण्डाल हूँ। फिर भी आप मेरा उद्धार क्यों नहीं करते ? तुमने पत्थर बनी हुई अहल्याको तार दिया, वानर-जैसे पशुओंका उद्धार कर दिया और निषाद-जैसे अस्पृश्योंको अपने स्पर्शद्वारा कृतार्थ कर दिया था।’ इत्यादि ऐसी पंक्तियाँ हैं जो कविकी आत्माके अन्तरतमसे निस्सृत प्रतीत होती हैं। प्रबोधन निम्नलिखित बरवै छन्दोंमें और भी स्पष्ट सुना जा सकता है—

मोहन जीवन-प्यारे, कस हित कीन ।
दरसन ही कौ तरफत ये दृग-मीन ॥
भजि मन राम सियापति, रघुकुल-ईस ।
दीनबंधु, दुख टारन, कौसलवीस ॥
भजि नरहरि, नारायण, तजि वक्रवाद ।
प्रगटि खंभ तें राख्यौ जिन प्रह्लाद ॥

(रहीम-रत्नावली)

इनके अतिरिक्त अन्य कितने ही बरवै उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनसे उनका सगुण भगवान्के प्रति विश्वास तथा हिंदुत्वप्रेम स्पष्ट प्रतिभासित होता है। श्रीनाथजी-मन्दिरके दर्शनोंसे सम्बद्ध तथा नामाजीकृत भक्तमालमें उद्धृत दो पदोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि कवि मानो मुरलीमनोहर पीताम्बरधारी कमलनयन मनमोहन कृष्णकी मधुमयी छविका छक-छककर रसपान कर रहा हो। भगवान्के भुवनमोहन रूपकी आसक्ति उनके विशाल नेत्रोंका आकर्षण रहीमकी आत्माको कुछ ऐसे शकशोर रहे हैं कि वह व्याकुलता-पूर्ण पदावली पढ़ते ही बनती है।

छवि आवन मोहनलाल की ॥
काळे काळनि, कलित मुरलि कर, पीत पिछौरी साल की ।
बंक तिलक केसर के कीने, दुति मानों बिधु माल की ॥

विसरत नहीं, सखी ! मो मन तें चितवनि नयन विसाल की ।
यौ सरूप निरखै सोइ जानै, या रहीम के हाल की ॥

(रहीम-रत्नावली)

रहीमको कृष्णके नेत्र, माल और कर-कपोलोंने ही आकर्षित नहीं किया था, वे उनकी मन्द-मन्द मुसकान, अमृतमयी बतरानि तथा विशाल वक्षःस्थलपर मुक्तामालकी थहरानिसे भी कम आकृष्ट न थे । रास-नृत्यके समय पीताम्बरका फहरना रहीमके हृदयमें उतनी ही गहरी आत्म-विस्मृति उत्पन्न करता था, जितनी अन्य किसी भक्तके हृदयमें—

कमल-दल नैननिकी उनमनि ।

विसरत नाहिं, सखी ! मो मन ते मंद-मंद मुसुकानि ॥
चढ़ी रहै चित उर विसाल की मुकुत माल थहरानि ।
नृत्य समय पीतांबर हू की फहरि-फहरि फहरानि ॥
अनुदिन श्रीवृंदावन ब्रज ते आवन-आवन जानि ।
वह रहीम चित तेन टरति है सकल स्याम की वानि ॥

(रहीम-रत्नावली)

इन पदोंको पढ़ते ही भक्त-शिरोमणि सूरदासका स्मरण हो आना स्वाभाविक है । वैसी ही आसक्ति, वैसी ही ललक, वही निष्ठा और वही विनम्रतापूर्ण आकुलता । और सबके ऊपर भाषाका सौकुमार्य-सारल्य एवं प्रवाह । भाव एवं भाषा सभी दृष्टियोंसे उनके पद सूखे होइ लेनेको तैयार हैं । काश, ऐसे कुछ पद और मिल पाते । रहीमका भक्त-हृदय घनाक्षर छन्दों और सवैयाओंमें भी फूटा है । वैष्णव-प्रेम-धारा, सवैयाओंमें तो और सवायुनी होकर बही है । इन सवैयाओं और घनाक्षरियोंमें सगुण रूपके प्रति जैसी निष्ठा, महाभारत एवं पुराणादिके स्थलों-जैसे उदाहरणोंका चयन, देवी-देवताओंके प्रति जितना पूज्य-भाव है, वैसा तो हिंदुओंके छन्दोंमें भी सर्वत्र नहीं मिलता । नीति, भक्ति, निष्ठा तथा काव्य-गरिमा आदि सबके साथ आपूरित वैष्णवी परम्पराकी एक घनाक्षरीका अवलोकन कीजिये—

बड़ेन सौ जानि-पहचानि कै 'रहीम' कहा,

जो पै करतार ही न सुख देनहार है ।

सीतहर सूरज सौं नेह कियौ याही हेत,

ताहू पै कमल जारि डारत तुषार है ॥

छीरनिधि माँहि धँस्यौ, संकर के सीस बस्यौ,

तऊ न कलंक नस्यौ, ससि में सदा रहै ।

बड़ौ रिझवार है, चकोर दरवार है,

कलानिधि-सौ यार, तऊ चाखत अँगार है ॥

(रहीम-रत्नावली)

स्पष्ट है कि रहीमके अनुसार सुख, उच्च पद, यज्ञोंकी जान-पहचान आदिसे नहीं, अपितु प्रभुकी कृपासे मिलता है । सूर्यसे स्नेह होते हुए भी तुषार कमलको जला डालता है, चन्द्रमासे एकनिष्ठ प्रेम होते हुए भी चकोरको आग ही भखनी पड़ती है । दुर्भाग्यमें बड़ा दुःख-दैन्य क्या प्रयत्नोंसे हट पाता है ? बेचारे चन्द्रमाने कौन-कौनसे उद्यम नहीं किये कि विष्णुकी विश्रामस्थली क्षीरसागर तथा भगवान् शंकरके शीश-जैसे उच्च एवं अप्राप्य स्थलोंको प्राप्त करके भी क्या उसका कलङ्क मिट पाया है ? कहनेकी आवश्यकता नहीं, अकबर और जहाँगीर इत्यादिसे घनिष्ठतम सम्बन्ध होते हुए भी रहीमका अन्तिम जीवन ताप-शापसे आपूरित रहा है । अतः यह अनुभव उनके अपने जीवनका अनुभव है और अभिव्यक्ति, कमल, चकोर, क्षीरसागर एवं शंकर-शीशके माध्यमसे हुई है—गुल्लो-बुल्लुल्लेके माध्यमसे नहीं । यही है रहीमका हिंदुत्व-प्रेम ! इतना ही नहीं, जिस प्रकार भाग्यमें बड़ा दुःख हटाये नहीं हटता, उसी प्रकार भाग्य-बड़ा सुख भी प्राप्त होकर ही रहता है । एक सवैया लीजिये—

दीन चाहैं करतार जिन्हें सुख, सो तो रहीम टरै नहि टारे ।

उद्यम-पौरुष कीन्हें बिना घन आवत आपुहि हाथ पसारे ॥

दैव हैंसै, अपनी अपना बिधि के परंपंच न जात विचारे ।

बेटा भयौ वसुदेव के धाम ओ दुंदुभि बाजत नंद के द्वारे ॥

(रहीम-रत्नावली)

यहाँ हम इस वाद-विवादमें नहीं पड़ना चाहते कि रहीम भाग्यवादी थे या पुरुषार्थवादी । देखना यह है कि उन्होंने जो कुछ भी कहा है, वह हिंदुओंकी शैलीमें हिंदुओंके ग्रन्थोंके उदाहरण देते हुए कहा है । भाग्यकी महिमापर उन्होंने और भी कहा है—

जो पुरुषार्थ ते कहूँ, संपत्ति मिलत रहीम ।

पेट लागि बैराट घर, तप्त रसोई भीम ॥

(रहीम-रत्नावली)

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यहाँ भी तथ्य-पुष्टिका आधार नूर और तूरके नहीं, विराट और भीमके उदाहरण हैं,

जो हिंदुओंके पूज्य ग्रन्थ महाभारतकी कथासे लिये गये हैं। महाभारत, रामायण तथा पुराणों इत्यादिसे सम्बद्ध उनके सैकड़ों संदर्भ प्रस्तुत किये जा सकते हैं। हम यहाँ तीनोंसे सम्बद्ध एक-एक उदाहरण देना ही पर्याप्त समझते हैं—

राम न जाते हिरन सँग, सीय न रावन साथ।

जो रहीम भावी कतहुँ होति आपुने हाथ ॥

रहिमन दुरदिन के परे, बड़ेन किए घटि काज।

पाँच रूप पांडव भए, रथबाहक नलराज ॥

माँग घटत 'रहीम' पद, कितौ करौ बढ़ि काम।

तीन पैर बसुधा करी, तऊ बावनै नाम ॥

(रहीम-रत्नावली)

इस प्रकार रहीमके काव्यको देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि रहीमको हिंदू-परम्पराओं, रीति-रिवाजों और धर्मग्रन्थोंके प्रति गहरी आस्था थी। इस आस्था और ज्ञानका प्रयोग उन्होंने जिस विस्तार एवं शुद्धताके साथ किया है, वह अन्य मुसल्मान कवियोंमें सहज प्राप्त नहीं। कुछ कवियोंने तो हिंदू-संदर्भोंमें भयंकर भूलें भी की हैं। जायसीकी भूलोंको तो आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल बहुत पहले गिना चुके हैं। रहीमके काव्यका आद्योपान्त अध्ययन कर लेनेके पश्चात् एक भी स्थल ऐसा प्राप्त नहीं होता, जिससे उनकी हिंदुत्वके प्रति किसी प्रकारकी अनास्था या अज्ञान प्रकट हो। शास्त्रीय अन्तःकथाओं, घटनाओं एवं तथ्योंको वे कुछ इस प्रकार प्रकट करते हैं, जिससे उनका हिंदुत्व-प्रेम ही प्रकट नहीं होता, अपितु संस्कृत-कवियों-जैसी पुनीत मौलिकता भी प्रतिभासित होती है।

जे गरीब पर हित करें, ते रहीम बड़ लोग।
कहा सुदामा बापुरो कृष्ण-मिताई जोग ॥
बड़े दीन कौ दुख सुनें, लेत दया उर आनि।
हरि-हाथी की कव हुती, कहु 'रहीम' पहिचानि ॥

(रहीम-रत्नावली)

स्पष्ट है कि रहीमके हृदयमें वैष्णवी श्रद्धाकी परम पुनीत एवं प्रबल मन्दाकिनी प्रवाहित थी। उस पुण्य जलके प्रतापसे रहीमके मनकी सम्पूर्ण धार्मिक कटुता धुल-धुलकर समाप्त हो गयी थी। जितनी दिव्यता, निष्ठा एवं वैष्णवी सूझ-बूझ उनके काव्यमें प्राप्त होती है, उतनी अनेकानेक हिंदुओंके काव्यमें भी नहीं। मुसल्मान होते हुए भी उन्होंने हिंदी और हिंदुत्वकी जो सेवा की है, उसके लिये सभी हिंदू उनके ऋणी हैं। अतः यह मुसल्मान कवि उतने ही नहीं, अपितु उससे भी अधिक आदरका पात्र है, जितने सूर, तुलसी और नन्ददास। स्पृहणीय थी उनकी श्रद्धा और श्लाघनीय था उनका विश्वास—

धूरि घरत निज सीस पै, कहु रहीम केहि काज।

जेहि रज मुनि-पतनी तरी, सो दूँदत गजराज ॥

रहिमन कौ कोठ का करै, ज्वारी, चोर लवार।

जो पत-राखनहार है, माखन-चाखनहार ॥

(रहीम-रत्नावली)

धर्म-निरपेक्ष भारतके लिये क्या रहीमका काव्य राष्ट्रीय चेतनाका आदर्श प्रेरणा-स्रोत नहीं हो सकता ?

‘जगत्की असारता’

मजा कहीं नहीं पाया जग में नाहक रहा भुलाया।
छिन के सुख की लालच जित तित खान लार टपकाया ॥
यह जग में जिनको अपना कर झूठा भरम बढ़ाया।
तिन खारथ फँसि कूकर सूकर सब दुतकार बताया ॥
अपना अपना अपना करकै बहुत बढ़ाई माया।
अंत सबै तजि दीनों मल सम जिनको अति अपनाया ॥
साँचे मीत स्यामसुंदर साँ छिनहुँ न नेह बढ़ाया।
‘हरीचंद’ मल मूत्र कीट बनि नर-जीवनहि गँवाया ॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

सत्सङ्ग

[कहानी]

(लेखक—श्रीलक्ष्मीनारायणजी शर्मा)

(१)

रात्रिका समय था। श्रीभगवदाश्रमजीका प्रवचन हो रहा था। विजलीकी रोशनीमें पीत-परिधानमें संतजीके मुखकी शान्ति तथा सौम्यता श्रोताओंको आकर्षित किये हुए थी। उनके प्रवचनमें गृहस्थ-जीवनके व्यावहारिक कर्तव्य-अकर्तव्यकी सरल भाषामें व्यवस्थित विवेचना थी। यही कारण था, जिससे उपस्थित श्रोता एकाग्रतासे प्रवचनको सुन रहे थे और वातावरणमें स्तब्धता थी।

जगतबाबू श्रोताओंमें सबसे पीछे बैठे थे। आज पहला दिवस था, जब वे किसी संतके प्रवचनमें आदिसे अन्ततक उपस्थित रहे। उनको उपदेशकोंसे सबसे बड़ी यह शिकायत थी कि उनका उपदेश व्यावहारिक नहीं होता।

प्रवचन समाप्त होते ही जगतबाबू संतजीके पास पहुँचे और धीरेसे बोले—‘महाराजजी ! कल आप मेरे यहाँ भिक्षा ग्रहण करनेकी कृपा करें ?’ ‘भैया !’ संतजी बोले। परंतु उनकी बातको काटते हुए जगतबाबूने अपनी बात चालू रखी—‘महाराजजी ! मैं ब्राह्मण हूँ। आप कच्चा भोजन पा सकेंगे ? गोयल साहबके यहाँ आपको पक्का भोजन करना पड़ता होगा।’ संतजीने स्वीकृति प्रदान करते हुए कहा—‘तेल, खटाई और लाल मिर्च न हो भैया !’

जगतबाबू और उनकी पत्नीके मुखपर आज विशेष प्रकारकी प्रसन्नता थी। सात्विक भोजन बड़ी पवित्रतासे बनाया गया था। संतजीको भोजन कराते समय दम्पति समझ नहीं पा रहे थे कि उनकी एक अजीब-सी दशा क्यों हो रही थी। कुछ अद्भुत आनन्द मिल रहा था उनको।

भोजनके पश्चात् संतजी कमरेमें एक तख्तपर बैठ गये। उन्होंने कमरेमें एक दृष्टि डाली। भगवान् श्रीकृष्णके चित्र टँगे थे। संतजीने कहा—‘बेटीको बुलाओ।’ जगतबाबू और उनकी पत्नी तख्तके सामने फर्शपर बैठ गये। एक बार पत्नीके मस्तिष्कमें जगतबाबूकी दोष-दृष्टिका खयाल आया, परंतु उसने तुरंत समाधान कर लिया कि इन महात्मा-में इनको क्या दोष दिखायी देगा।

संतजीने पूछा—‘आप कुछ भगवद्भजन करते हैं ?’ दम्पतिने सिर झुकाकर स्वीकारात्मक उत्तर दे दिया। संतजीने फिर कहा—‘भैया ! मनुष्यका जन्म बड़ी कठिनाईसे मिलता है। फिर ब्राह्मण-शरीर तो किसी तपस्याका फल है। ईमानदारीसे जीविकोपार्जन करते हुए प्रभु-स्मरण अवश्य करना चाहिये। गृहस्थका यह परम कर्तव्य है।’

पत्नीने सोचा—यह स्वर्ण अवसर है। पतिदेव शान्त हैं। महात्माजीसे प्रभावित हैं। वह बोली—‘बाबा ! इनको कुछ अशान्ति रहती है।’ इसके पूर्व कि वह आगे कुछ कहती जगतबाबू बोल उठे—‘महाराजजी ! मेरी अशान्तिका कारण मेरी दोष-दृष्टि है। मैं इससे त्राण नहीं पा रहा हूँ।’

संतजी एक क्षण गम्भीर हुए और फिर बड़े दृढ़ शब्दोंमें बोले—‘संसारकी दृष्टिमें तुम सुखी हो, परंतु आध्यात्मिकतामें तुम दरिद्र हो, इसलिये तुम्हारे आन्तरिक अशान्ति है।’

संतजी फिर बोले—‘मैं तुमसे एक बात कहता हूँ। तुम उसपर विचार करना। प्रभु चाहेंगे तो तुम्हें शान्ति मिलेगी। किसी व्यक्तिके कोई वस्तु प्राप्त करनेके लिये उसमें श्रद्धा रखनी होगी। बिना श्रद्धाके कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। जिस वस्तुकी खोज करोगे, वही तुम्हें प्राप्त होगी। तुम दूसरोंमें अवगुण खोजोगे तो अवगुण ही तुम्हें प्राप्त होंगे। अबतक तुमने जिसकी खोज की, वही तुमको प्राप्त हुआ होगा और वही तुम्हारे पास है। अब सोचो, अबतक तुमने खोया ही खोया है। प्राप्त वस्तुको तुमने खोजा नहीं, फिर तुम्हारे पास उसके होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। तुम्हारी दशा बड़ी दयनीय है। शान्ति कैसे मिल सकती है ?’

जगतबाबूकी दयनीय दशापर संतजी कुछ द्रवित हुए। संतका स्वभाव तो नवनीतका रूप है। तनिक उष्णता आयी कि पिघल गये। वे बोले—‘भैया ! तुम तो श्रीकृष्णके उपासक मालूम पड़ते हो। श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

‘अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।’

अर्थात् ‘मैं ही सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ और सब मेरे

द्वारा चेष्टा करते हैं। इसलिये जिसे तुम भला या बुरा समझते हो, उससे भला ले लो और बुरेसे घृणा न करो; क्योंकि वह भी प्रभुका है। विषधर साक्षात् काल है। उसके विषसे मृत्यु होती है, परंतु उसके विषसे ओषधि बनती है, जो प्राण-रक्षा करती है। फिर उससे घृणा क्यों? क्या तुममें अवगुण नहीं हैं?”

अन्तमें वे कहने लगे—“तुम श्रीकृष्णके उपासक हो। तुम्हारा प्रत्येक कार्य इस विचारके साथ होना चाहिये कि उससे तुम्हारे उपास्य-देवको प्रसन्नता हो। उन्होंने तो स्पष्ट कह दिया है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणम्यामि स च मे न प्रणम्यति ॥

“सबमें उनके दर्शन करो। फिर हर क्षण और हर स्थानपर वे तुम्हारे पास हैं और जब वे तुम्हारे पास हैं, तब अशान्ति तुम्हारी ओर देख नहीं सकती। उपासनाके साथ-साथ प्रभुके वचनोंका पाठ करो और उनकी लीलाओंको पढ़ो, सुनो और सुनाओ। इसीमें तुम्हारा कल्याण है।”

इस संत-भेटके पश्चात् जगतबाबूमें अद्भुत परिवर्तन आ गया। प्रातः प्रभुकी उपासना और गीताका पाठ तथा रात्रिको पत्नीको श्रोता बनाकर श्रीमद्भागवतका स्वाध्याय करते हुए भगवान्की लीलाओंको सुनाना उनकी निश्चित दिनचर्या बन गयी।

(२)

जगतबाबूने भोजन किया। कार्यालय जानेके लिये तैयार होकर अनायास बरंडेमें खड़े हो गये। उन्होंने देखा कि एक गौरवर्ण और विशालकाय महात्मा केवल कोपीन लगाये वड़ी मस्त चालसे सड़कपर उनकी कोठीकी ओर चले आ रहे हैं। अरे, वे तो कमरपर हाथ रखकर उनके फाटकके सम्मुख खड़े हो गये। जगतबाबू बरंडेकी सीढ़ियोंसे उतरते हुए बड़े नम्र भावसे बोले—“महाराजजी! भोजन पाइयेगा?” महात्माने सरल स्वभावसे कहा—“इच्छा तो है, भाई!”

जगतबाबूने कमरेमें आसन बिछाया और महात्मासे बैठनेकी प्रार्थना की। वे बोले—“महाराजजी! भोजनमें कोई विशेष वस्तु तो नहीं होगी?” महात्माने कहा—“जो भगवान्का प्रसाद हो, ले आइये। हाँ, हम देहांतमें भ्रमण करनेवाले साधु हैं। इसलिये चावल बना हो तो दही हो तो अच्छा है।”

जगतबाबूने तुरंत दही मँगाया और थाल महात्माके सम्मुख रख दिया। महात्माने भोजन किया और चल दिये। जगतबाबू अतिथिको फाटकतक पहुँचाने गये। जगत-

बाबू जैसे ही लौटे, महात्माने लौटते हुए कहा—“भाई! एक प्रदन है। तुमने मुझे अपने घरके भीतर ले जाकर भोजन कराया और यदि मैं डाकू हुआ तो?” जगतबाबू मुसकराये और विनीत भावसे बोले—“आप डाकू हैं, यह आप जानते होंगे। मैंने तो आपमें एक साधु अतिथिके दर्शन किये। गृहस्थके परम कर्तव्यका पालन करते हुए उनकी यथाशक्ति सेवा की। आपने इस सेवाका सुअवसर दिया, इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ।” महात्मा सड़कपर तेजीसे चले गये और जगतबाबू—

‘ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।’

—गुणगुनाते हुए घरमें चले आये।

(३)

पौषका महीना था। रात्रिके आठ बजे थे। कोहरा छाया हुआ था। शीत वायु वेगसे बह रही थी। कमरेके दरवाजे और खिड़की बंद करके जगतबाबू पलंगपर बैठे पुस्तक पढ़ रहे थे। उनकी दो पुत्रियाँ और एक पुत्र अध्ययनमें तल्लीन थे।

किसीने दरवाजा खटखटाया। कमरेमें बैठे लोगोंका ध्यान उधर गया। जगतबाबूके संकेतसे लड़केने दरवाजा खोला। देखा, एक लंबा दृष्ट-पुष्ट व्यक्ति साफा, कोट और विरजिस पहने दरवाजेपर खड़ा था। जगतबाबूने कहा—“आइये।” लड़कियाँ तुरंत भीतर चली गयीं और वह व्यक्ति जगतबाबूके सामने एक कुर्सीपर बैठ गया।

वह बोला—“आपने मुझे पहचाना नहीं?” जगतबाबूने नकारात्मक उत्तर दिया। उसने लड़केसे कहा—“बेटा! जरा अंदर चले जाओ।” लड़केके अंदर चले जानेपर वह व्यक्ति फिर बोला—“बाबूजी! मैं वही साधु हूँ, जिसको आपने इसी कमरेमें एक दिन दफ्तर जाते समय भोजन कराया था। वास्तवमें मैं डाकू हूँ। उस समय मैं और मेरे साथी पुलिसके घेरेसे छिपकर भागे हुए थे। मैं साधुका वेप बनाकर शहरकी ओर चला आया था। दो दिनका भूखा था। आपकी सजनतासे मैं बहुत प्रभावित हुआ था। मुझे ऐसा आभास हुआ था कि आप धार्मिक व्यक्ति हैं और आपपर खर्चका बड़ा भार है।” जगतबाबू कुछ कहना चाहते थे, परंतु उसने उन्हें रोकते हुए कहा—“मेरी पूरी बात सुन लीजिये, ध्वराइये नहीं। मेरा नाम रामसिंह है। आपने अखबारोंमें पढ़ा होगा कि कुछ दिन पूर्व मैं एक सेठके दो लड़कोंको पकड़कर ले गया था। कल उससे मुझे अस्सी हजार रुपये मिले हैं। मैं गरीबोंकी मदद भी करता हूँ। आपके दो

पुत्री शादीयोग्य हैं। इसलिये यह लीजिये, मैं बीस हजार आपको देनेके लिये लाया हूँ। यह कहते हुए उस व्यक्तिने अपने हाथका थैला जगतबाबूके सामने रख दिया।

जगतबाबू कुछ सवकपाये, परंतु साहस बटोरकर दृढ़तासे बोले—आप क्या थे और क्या हैं, इससे मुझे कुछ नहीं करना। मैंने एक साधु अतिथिको भोजन कराकर गृहस्थके परम कर्तव्यका पालन किया था। आपके प्रश्नका मैंने यही उत्तर दिया था। इस समय आप मेरे सम्मुख एक सम्य पुरुषके वेषमें बैठे हैं। आपका यह धन पापका पैसा है। इसे आप तुरंत मेरे सामनेसे उठा लीजिये। मैं अपने कर्तव्योंके पालनका यथाशक्ति प्रयत्न करता हूँ और प्रभुने जो दिया है, उससे संतुष्ट हूँ।

कुछ मिनट स्तब्धता रही। जगतबाबूने फिर कहा—मैं आपको उपदेश तो कर नहीं सकता, परंतु एक नम्र निवेदन

करूँगा कि आप इस पापकर्मसे बचनेका प्रयास कीजिये। जिस वेषको आपने धारण किया था, उसकी रक्षा करिये, नहीं तो साधारण मनुष्यका उस वेषसे विदवास उठ जायगा, जो समाजके प्रति बड़ा अनर्थ होगा।

वह व्यक्ति उठा और बिना कुछ कहे चल दिया। जगतबाबू स्वभाववश उसके पीछे फाटकतक गये, नमस्कार किया। वह एक घोड़ेपर, जिसे आते समय वह फाटकके बाहर एक बिजलीके खंभेसे बाँध आया था, सवार हुआ। उसने हाथ जोड़कर जगतबाबूको फिर नमस्कार किया। घोड़ेको ँड़ मारी और क्षणोंमें आँखसे ओझल हो गया।

ऐसा सुननेमें आता है कि चित्रकूटके वनोंमें एक साधु घूमते रहते हैं। वे केवल कोपीन पहने रहते हैं। लोग कहते हैं, पहले वे डाकू थे।

संतकी निर्भयता

(लेखक—श्रीश्यामननोहरजी व्यास, एम्. एस्. सी.)

यूनानके सम्राट् सिकंदरने सुन रखा था कि भारतमें बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी ऋषि-मुनि रहते हैं। ऐसे तत्त्वज्ञानियोंसे मिलनेकी उसकी बड़ी अभिलाषा थी।

भारत-आक्रमणके समय उसकी यह इच्छा पूरी हुई, एक दिन सिकंदर एक वनकी ओर भ्रमणार्थ चल पड़ा। कुछ दूर जाकर उसने एक महात्माको ध्यानावस्थित देखा। महात्माके पास न कोई वस्त्र थे न आभूषण और न किसी प्रकारका कोई ऐश्वर्य; पर फिर भी दीप्तिमयी आभा उनके मुखसे ऐसी फूट रही थी, जैसे वे कोई सम्राट् हों।

सिकंदरने उन्हें प्रणाम करके पूछा—‘महाराज ! साधनहीन होकर भी आपमें सम्राटों-जैसी तेजस्विता कहाँसे आयी है ?’ साधुने हँसकर उत्तर दिया—‘अरे सिकंदर ! तुम्हें पता नहीं; मेरा ईश्वर कितना दिव्य, तेजस्वी और महान है; उसकी कृपासे ही मैंने तेजस्विताका एक अणुमात्र पाया है।’

सिकंदर महात्मासे बड़ा प्रभावित हुआ। उसने ऐसे महात्माको गुरु बनानेका निश्चय किया। इसी अभिप्रायसे उसने पूछा—‘महाराज ! आप मेरे गुरु बनकर मेरे साथ यूनान चलिये। मैं अपना सारा राज्य-वैभव, धन और सम्पत्ति आपके चरणोंमें न्योछावर कर दूँगा।’

महात्माने उत्तर दिया—‘सिकंदर ! मैं मुक्त साधु हूँ; मुझे धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्यसे क्या लेना-देना। जिसके पास मणि हो वह काँचके टुकड़ेके लिये क्यों तेरे साथ जायगा।’

सिकंदरको अपनी उपेक्षापर बड़ा गुस्सा आया। उसने इसे अपना अपमान समझा।

वह तलवार खींचकर बोला—‘अभी मैं तुम्हें मार डालूँगा।’ साधु खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—‘सिकंदर ! मैं तो यही चाहता हूँ कि तू मुझे मार डाले, पर क्या तेरे पास ऐसी तलवार है, जो मेरे ‘मैं’को काट डाले ? आत्मा अजर-अमर और ईश्वरांश है, शस्त्रादिसे उसका विनाश नहीं हो सकता। तेरी तलवार मेरे पाञ्चभौतिक देहको ही नष्ट करेगी, किंतु मेरी आत्माको नहीं। देह नश्वर है और आत्मा अजर-अमर।’

संतकी निर्भयताको देखकर सिकंदर हतप्रभ हो गया। तलवार फेंककर वह उनकी विद्वत्ताके आगे नतमस्तक हो गया। अपने अपराधके लिये वह महात्मासे क्षमा माँगने लगा।

क्षमाशील महात्माने उसे क्षमा कर दिया। भारतीय महात्माओंकी तेजस्विताकी एक शलक लेकर सिकंदर लौट पड़ा।

× × ×

पढ़ो, समझो और करो

(१)

प्रेतात्माकी शान्ति

दो वर्ष पूर्व कोटास्थित भक्त भावनदासजी कपड़ेवालेके घरमें आश्चर्यजनक आवाज हुआ करती थी । वह आवाज उनकी १२ वर्षीय पुत्रीको अधिक परीक्षा न किया करती थी । श्रीभावनदासने समस्त घटना हमारे स्व० गुरु स्वामी प्रेमदासजीको लिख भेजी और शान्तिके उपायके लिये प्रार्थना की । गुरुजीने लिख भेजा कि 'लड़कीकी दादी (श्रीभावनदासजीकी माता) की आत्मा भटक रही है । उसकी शान्तिके लिये ब्राह्मणोंको भोजन कराया जाय और श्रीगरुडपुराणका पाठ भी आरम्भ किया जाय ।'

गरुडपुराणका साप्ताहिक पाठ हुआ और ब्राह्मण-भोजन भी । पाठकी अवधिमें कोई भी आवाज नहीं हुई, लेकिन दूसरे दिन फिर प्रारम्भ हो गयी । फिर श्रीभावनदासजीने कोटासे उक्त घटनाका संभाचार दिया और शान्तिके लिये आग्रह किया । पूज्य गुरुजीने फिर लिख भेजा कि 'आपने जो गरुडपुराणका पाठ कराया था, उसमें ब्राह्मणकी असावधानी और अशुद्धिके कारण विघ्न पड़ा होगा । अवकी बार किसी सुयोग्य ब्राह्मणसे वही कार्य फिर करवाना चाहिये ।'

उक्त क्रिया फिरसे सुयोग्य सदाचारी ब्राह्मणोंद्वारा करवायी गयी । अवकी बार ब्राह्मणोंको दान-दक्षिणासे प्रसन्न किया गया और गरुडपुराणका पाठ भी विधिपूर्वक कराया गया । प्रभु-कृपासे अब पूर्ण शान्ति बनी हुई है ।

—श्रीनारायणदासजी

(२)

टिकट-निरीक्षककी ईमानदारी

घटना दो वर्ष पहलेकी है । उस वर्ष दिसम्बरमें कड़ाकेकी सर्दी पड़ रही थी । ठंडकी वजहसे लोग रातको अपना कार्य जल्दी समाप्तकर ठंडसे बचनेके लिये कम्यलमें जा घुसे थे । रात्रिका शान्त वातावरण था । रातके एक बजे सारवाड़ जंक्शनपर एक पैसेंजर गाड़ी आकर रुकी । कुछ यात्री उतरे, जिन्हें देखनेसे ऐसा प्रतीत होता था कि ये बाराती लोग हैं । ठंड लगनेके कारण उन्होंने गाड़ीसे जल्दी उतरकर

सामानको उतारा और बहुत फुर्तासे दूसरी सवारीगाड़ीमें, जो अहमदाबाद जानेवाली थी, जा बैठे । गाड़ी चल दी । गाड़ी अहमदाबाद जा पहुँची । सबरे जय उन्होंने अपने सामानका निरीक्षण किया, तब यह देखकर वे हैरान हो गये कि उनकी टोकरी, जिसमें वधूके सोनेके आभूषण रखे थे, जो करीब ११ हजार रुपयेके थे, नहीं है । चोरी होनेके डरसे उन्होंने उसे एक पुराने कपड़ेमें बाँधकर टोकरीमें रखे थे । सारी चीजें अलग-अलग करके देखीं, पर वह कहीं नहीं मिली । सबका चेहरा पीला पड़ गया । वे घर क्या मुँह दिखायेंगे ? ससुरकी आँखोंसे लगातार अश्रुधारा बहने लगी । उन्हें अपनी लपरवाहीपर बहुत क्रोध आया । उन्हें पूर्ण विश्वास था कि गाड़ी बदलनेके बाद उनके डिब्बेमें किसी यात्रीने प्रवेश नहीं किया था । उनकी गलती थी कि गाड़ी बदलनेके पश्चात् उन्होंने अपने सामानका पुनः निरीक्षण नहीं किया । कभी वे अपनेको और कभी अपने भाग्यको कोसते थे । वे सोच रहे थे, 'लड़की भी सुखसे नहीं जी सकेगी । परिवारके सभी लोग उससे घृणा करेंगे और ताने देंगे ।' विवाह होतेही अपशकुनका होना परिवारको निकट भविष्यमें आपत्ति आनेकी सूचना थी ।' सबके चेहरे मुरझा गये । सबके मनमें यह बात घर घर गयी कि उन्हें गहने वापस नहीं मिलेंगे । फिर भी मनुष्य आशाका दामन नहीं छोड़ता । जयतक साँस, तबतक आस । उन्होंने हिम्मत नहीं हारी । स्टेशन-मास्टरकी सहायतासे सभी जंक्शनोंपर फोन कर दिया ।

होनी बड़ी बलवान् होती है । जिस गाड़ीसे वे उतरे थे, वह गाड़ी उदयपुरके लिये रवाना हुई । गाड़ीमें चार-पाँच मुसाफिर चढ़े और उस डिब्बेमें अपना सामान जमा कर बैठ गये । आभूषण एक पोटलीमें बंद थे और एक पुरानी टोकरीमें रखे थे । ऊपर दक्कन लगा हुआ था । गाड़ी अपनी रफ्तारसे आगे बढ़ रही थी । मावलीके आनेमें अभी आध घंटेकी देर थी । एक स्टेशनपर एक टिकट-निरीक्षक चढ़ा । वह यात्रियोंके टिकट देखकर वहाँ बैठ गया । कुछ देर पश्चात् उसकी नजर उस पोटलीवाली टोकरीपर गयी । उसने उसे गौरसे देखकर यात्रियोंसे पूछा—'यह आपकी पोटली है ?'

'शायद पड़ोसी यात्रीकी होगी ।' एक यात्रीने जवाबमें कहा । 'मेरी नहीं है ।' दूसरेने कहा । और दूसरे यात्री अर्ध-

निद्रामें थे, इसलिये उन्होंने सिर हिलाकर नहीं होनेका संकेत किया। कुछ देर पश्चात् माबली स्टेशन आ गया। टिकिट-निरीक्षकने टोकरी उठायी। उसे वह कुछ भारी प्रतीत हुई। वह उसे उठाकर उतर गया। कुछ दूर चला कि उसके मनमें कुछ शङ्का हुई। उसने टोकरी खोलकर पोटलीको भी खोला। उसमें सोनेके आभूषण—कंगन, पायल, नथ वगैरह थे।

वह सोचमें पड़ गया। इतनी बड़ी धनराशिका क्या किया जाय? मनने कहा—‘तुम इसे ले लो, इतनी राशि तुम जिंदगीके आधे वर्ष गुजारनेपर भी शायद ही इकट्ठी कर पाओ।’

आत्माने कहा—‘नहीं! तुम मत लो; यह किसी विवाहिता स्त्रीका है। इस समय तुम उसके मनके दुःखका अंदाज नहीं लगा सकते। उसके मनसे निकली हुई वदूदुआएँ तुम्हारा निश्चित ही अन्त कर देंगी। आज यह घटना, जो उसके साथ घटी है, यदि तुम्हारी बहनके साथ या बेटीके साथ घटती तो तुम उस दुःखका अनुभव करते। इसलिये तुम इसे मत रखो।’

मनने कहा—‘हरिश्चन्द्र बननेकी कोशिश मत करो। दुनियाके कारोबार ऐसे ही चलते हैं। ऐसा मौका फिर न मिलेगा। इस कलियुगमें ईमानदारी दिखानेसे कोई लाभ नहीं। दुनियामें सभी लालची हैं। आज-कल किसीने पाया धन नहीं लौटाया है।’ आत्माने कहा, ‘नहीं! तुम यह क्यों भूलते हो; इस समय तुम नौकरीपर हो। तुम्हारा कर्तव्य गाड़ीमें मिले हुए मालको आफिसमें जमा करना है। तुम धनके लोभमें कर्तव्यसे विमुख मत होओ। चोरीका माल मोरीमें ही जाता है, यह सत्य है। इस पापके लिये भगवान् भी तुम्हें क्षमा न करेंगे। कर्तव्यके लिये लोभको छोड़ो, तभी तुम्हें शान्ति मिलेगी।’

इस प्रकार मन और आत्माके इस प्रतिद्वन्द्वमें आत्माने मनपर विजय प्राप्त की और उसने वैसे ही पोटली बाँध दी और स्टेशन-मास्टरको सूचित किया और उनके सामने उस टोकरीके मिलनेकी घटनाका वर्णन किया। स्टेशन-मास्टरने पुलिसको बुलाकर जाँच की। उसमें एक रसीद थी, जिसमें खरीदनेवालेका नाम-पता था। उसे फोनद्वारा बुलाया गया। काफी सबूत और जानकारी प्राप्त करनेपर माल उन्हें लौटा दिया गया। ससुरकी आँखोंसे अभुधारा वह निकली। आज मानो उसने उस व्यक्तिमें साक्षात् ईश्वरके दर्शन

किये। उसके मुँहसे धन्यवादके शब्द नहीं निकल पाये। केवल आँखोंकी गङ्गा और यमूना बहने लगीं।

जब उसे पता चला कि माल पानेवाला निरीक्षक गरीब है, तब उसने उसे इनामके तौरपर २००) देनेकी कोशिश की। इसपर टिकिट-निरीक्षकने मना करते हुए कहा, ‘सब श्रीनाथजीका प्रताप है, मैंने तो कुछ नहीं किया।’ और सिर झुकाये वह अपने घर चल दिया।

—एक सार्था

(३)

ईमानदारी

बात पिछले वर्षकी ही है। वृन्दावनमें होलीका उत्सव देख लेनेके बाद कुछ सेवक मुझे हरिद्वार ले गये थे। हरिद्वारसे लौटनेके दिन मैं तुलसीकी माला लेनेके लिये बाजार गया हुआ था। एक छोटी-सी दूकानसे मैंने कुछ तुलसीकी मालाएँ तथा कंठियाँ खरीदीं और पैसे देकर यात्रीनिवासपर लौट आया। करीब एक घंटे बाद पैसोंकी आवश्यकता होनेपर मैंने थैली देखा तो उसमें मलमली कपड़ेका मनीबैग नहीं मिला। मनीबैगमें अधिक रकमके साथ-ही-साथ पाकेट बड़ी भी थी। बहुत विचार करनेपर यही समझमें आया कि शायद तुलसी-मालाकी दूकानपर मनीबैग रह गया हो। समयको देखते हुए मिलनेकी आशा तो नहीं थी, लेकिन फिर भी मनके संतोष करनेके निमित्त पता लगानेको उस दूकानपर पहुँच ही गया। आश्चर्य! वे वयोवृद्ध सज्जन मेरी राह ही देख रहे थे। मनीबैगके बारेमें पूछते ही उन्होंने तुरंत अपनी पेट्रीसे निकालकर उसे मेरे हाथमें थमा दिया और बोले—‘इसे मैंने खोलकर भी नहीं देखा है; लेकिन इसके वजनको देखकर मैं यही सोच रहा था कि स्वामीजी बेप-भूषासे वृन्दावनके लगते हैं, इसलिये इस भारी रकमके गुम हो जानेपर उन्हें बड़ी परेशानी होगी।’ उनके इन सहानुभूतिपूर्ण शब्दोंको सुनकर मैंने मनीबैग उनकी ओर बढ़ाते हुए कहा कि ‘इसमेंसे आपकी जितनी इच्छा हो, उतनी रकम निकाल लें।’ लेकिन हाथ जोड़कर उन्होंने यही कहा कि ‘मैंने तो अपना फर्ज पूरा किया है। आप केवल इतना ही आशीर्वाद दें कि मेरे मनमें कभी बेईमानी न आये।’ मालाएँ तो अधिक लेनी नहीं थीं, लेकिन अपना फर्ज समझकर मैंने दूकानसे बहुत-सी मालाएँ खरीद लीं और उन्हें खुशकर, अन्तःकरणसे आशीष् देता हुआ यात्री-निवासपर लौट आया। इस कलिकालमें यदि सभी इस प्रकार

अपना कर्तव्य निभाने लगे तो पृथ्वीतलपर ही सुख-शान्तिसम्पन्न स्वर्ग उतर सकता है ।

—श्रीप्रेमस्वामी महाराज 'हितप्रेमा', श्रीराधागढ़

(४)

भगवत्कृपाका चमत्कार

[सच्ची घटना]

मेरे लिये यह एक अद्भुत महान् घटना है ।

मैं प्राक्-विज्ञान (१९७०) की परीक्षा दे रहा था ।

नकल करनेकी पूरी धाँधली थी । मैंने नकल न करनेका निश्चय कर लिया था । इसका कारण यह नहीं कि मेरा पाठ पूर्णतः तैयार था; अपितु 'कल्याण' के किसी अङ्कमें मैंने पढ़ा था, 'भगवान्पर पूर्ण भरोसा करनेसे हर काम सफल हो जाता है ।' मैं भी उस लेखका ध्यान करके परीक्षा देने लगा और नकल नहीं की । मेरे सात पन्ने संतोषजनक हो गये, यह प्रभुकी ही कृपा थी । आठवें दिन भौतिक विज्ञानके प्रथम पत्रकी परीक्षा थी । उसके पन्ने देखते ही मेरे होश उड़ गये । मैं उनमेंसे एक ही प्रश्नका उत्तर लिख सकता था और लिखा भी । छः प्रश्नोंके उत्तर देने थे । मैं निराशा-सा बैठता था । सभी लड़के नकल कर रहे थे । वहाँपर पुस्तकें भी थीं । मैं विचलित होने लगा; पर यह सोचकर कि 'द्वितीय पत्र ठीक हो जानेपर मैं उत्तीर्ण हो जाऊँगा ।' मैंने अपनी कापी जमा कर दी । दूसरे दिनकी भी स्थिति ठीक वही हो गयी । द्वितीय पत्रमें भी मैं दो प्रश्नोंका ही उत्तर दे सका । मैंने पास होनेकी आशा छोड़ दी । क्षणभरके लिये सोचा, 'चोरी करूँ तो सम्भव है पास हो जाऊँ ।' पर सद्बुद्धिने सहायता की । विचार बदल गये । अवतक तो चोरीकी जरूरत भी नहीं थी । सच्ची परीक्षाका तो क्षण भी यही था । मैंने अनुत्तीर्णताका सहर्ष स्वागत किया और भगवान्की याद कर चोरी नहीं की । मुझे बैठे देखकर पासके सज्जन मित्रने मुझे पुस्तकसे लिखनेका आग्रह किया । वे समझाने लगे—'आज सच्चाईका युग नहीं है; दोस्त । जो चोरी-बेईमानी आदिका सहारा नहीं लेगा, उसका गुजारा नहीं है ।' मैंने उनसे कोई तर्क नहीं किया; पर हृदयने मुझसे कहा—'यही छिछली भावना ही तो हर किसीपर परदा डाले हुए है । इसी युगमें नहीं; किसी भी युगमें सत्यपथ कठिन होता है । सत्ययुगमें भी राजा हरिश्चन्द्रको सत्यवादी कहलानेके लिये कितना कष्ट सहना पड़ा था ।' इसी हृदयोक्तिने नकल न करने दिये ।

कापी उस दिन भी जमा कर दी । परीक्षाके बाद लोगोंने कापीका पता लगाने एवं पैरवी करनेको कहा । मैं उसे भी प्रभुके ऊपर भार देकर किसी बहाने टाल गया ।

आपको यह जानकर अचम्भेके साथ प्रभुमें विश्वास होगा कि मात्र उनकी कृपासे मैं परीक्षामें उत्तीर्ण हो गया । अफसोस मेरे मित्र महोदय किसी गड़बड़ीसे पास नहीं हो सके । आर्त विनय एवं दीन पुकार प्रभु जरूर सुनते हैं, यदि वह दृढ़ विश्वासके साथ हो ।

'धन्य हैं कृपानाथ !'

—एक कल्याण-प्रेमी 'राही'

(५)

मातृ-भक्ति

५-६ वर्ष पूर्वकी बात है कि भाई रामपाल बंबईसे अपनी माताजी (यानी हमारी बुआजी) को साथ लेकर गुजरातके समस्त तीर्थोंका दर्शन कराने हेतु तीर्थयात्राके लिये निकले । साथमें उनकी धर्मपत्नी थीं, जो माताजीकी सेवाके उद्देश्यसे साथ गयी थीं एवं इस निमित्त तीर्थोंके दर्शन भी स्वतः हो जायेंगे, यह लोभ भी था । पहले वे लोग अहमदाबाद गये, वहाँसे अपने बड़े भाई, जो वहाँ रहते थे, उनको भी तीर्थयात्रामें साथ ले लिया ।

यहाँ यह कहना अप्रासङ्गिक नहीं होगा कि हमारी बुआजी हृदयरोग आदिके कारण अस्वस्थ रहती हैं, एवं चलने-फिरनेमें भी उन्हें घुटनोंके दर्दके कारण कठिनाई होती है । लेकिन तीर्थयात्राके लोभके कारण उनकी रोगजन्य अशक्तता गौण हो गयी थी ।

उनके पैरों एवं घुटनोंमें काफी दर्द रहता था । गुजरातके सभी तीर्थोंके दर्शन कराते समय प्रातःकाल जानेके पहले एवं शामको लौटनेके बाद पैर एवं घुटनोंमें गर्म पानीसे सेंक एवं तेलमालिश आदि भाई, उनकी धर्मपत्नी एवं उनके बड़े भाई करते थे । इस तरह बुआजीके लिये चलना-फिरना सम्भव होता था । बुआजी बाजारका कुछ नहीं खाती थीं, इसलिये रामपालकी धर्मपत्नी स्नानादि कर उनके लिये भोजन भी स्वयं बनाती थीं ।

इस कार्यक्रममें गुजरातके सभी तीर्थोंके दर्शन हो गये । अन्तमें पहुँचे द्वारका । उन लोगोंको जानकारी न होनेके कारण एवं स्थानीय पंडेके आग्रहपर वे मन्दिरके पीछेकी तरफ धर्मशालामें ठहरे । वह धर्मशाला पंडेकी थी ।

वे लोग दोपहर १२ बजेके लगभग पहुँचे थे। पहुँचते ही नित्यकर्म एवं भोजनादिसे निवृत्त हो लिये। पहले कार्यक्रम था कि शामको दर्शनके लिये जायेंगे। लेकिन तीर्थोंमें जानेके बाद दर्शनमें विलम्ब सहन कैसे हो ? पंडाजी तो अपने कामसे कहीं चले गये थे, लौटकर आये ही नहीं।

बुआजीने कहा—‘चलो, दर्शन कर लें। इसमें पंडेकी आवश्यकता भी क्या है ?’ रामपाल आदिने मातृ-आशा शिरोधार्य की और सब लोग दर्शनको चल पड़े। धर्मशालाके बाहर निकले तो शत हुआ कि यह तो मन्दिरका पिछवाड़ा है। वहाँसे चलकर किसी तरह मन्दिरके दरवाजेपर पहुँचे। लेकिन मन्दिरकी सीढ़ियोंको देखकर तो बुआजीकी हिम्मत पस्त हो गयी। सीढ़ियाँ संख्यामें ३०-४० थीं एवं काफी खड़ी यानी ऊँचाईपर थीं। बुआजीने कहा—‘इतने तीर्थ तो हो गये, अब इन सीढ़ियोंपर तो हम नहीं चढ़ सकतीं।’

रामपालको बड़ा दुःख हुआ। वह सोचने लगा कि ‘इतने तीर्थोंके बाद अब माताजी कह रही हैं कि सीढ़ियोंके कारण तीर्थ नहीं हो सकेगा। यह तो बड़े दुःखकी बात है। इनको कुर्सीपर बैठकर या अन्य किसी साधनसे ऊपर ले जायेंगे तो इनको संतोष नहीं होगा।’ रामपालने माताजीसे प्रार्थना की—‘हिम्मत मत हारिये, धीरे-धीरे ऊपर चलिये।’ लेकिन माताजीका साहस नहीं हुआ। उन्होंने कहा—‘मेरे तो पैर ही नहीं उठ रहे हैं।’ इतनेमें भगवान्की प्रेरणा हुई या रामपालके मनमें क्या आया कि वह सहसा बोल उठे—‘आज हमने जीवनमें जितना पुण्य किया है, वह आपको समर्पित है, एवं पाप हमारे पास रहे। अब आप खटसे सीढ़ियोंपर चढ़ चलें।’ इस समय रामपालके पास संकल्प करनेके लिये न जल था, न किसी मन्त्रकी ही उन्हें जानकारी थी। मानसिक संकल्पसे उन्होंने यह कहा, एवं बुआजी खट-खट सीढ़ियोंपर चढ़ गयीं एवं द्वारकाधीशके पावन चरणोंमें पहुँच गयीं।

बुआजी कृतकृत्य हो गयीं। रामपालकी आँखें भर आयीं एवं परिवारके लोग भी गद्गद हो गये।

बुआजीने कहा—‘बेटा रामपाल ! यह तुमने क्या किया ? इस तरह कहीं जीवनका पुण्य समर्पित किया जाता है ?’

रामपालने कहा—‘माँ, तुम नहीं जानतीं, मैं व्यापारी हूँ; मैंने बहुत ज्यादा मुनाफेका सौदा किया है। आपको पुण्य अर्पण करनेसे मेरा पुण्य घटा नहीं है, बढ़ा ही है। आपने दर्शन कर लिये, इससे हमको बड़ी शान्ति हुई है; इससे

ज्यादा पुण्य मेरे लिये और क्या हो सकता है ? इससे जितनी शान्ति और संतोष मुझे मिला है, वह इस जीवनमें कभी नहीं मिला है और न मिलेगा ही।’

—श्रीरामजीवनजी चौधरी

(६)

श्रीदुर्गाकवचका प्रभाव

आजके भौतिकवादी युगमें भी यदि पूर्ण आस्थाके साथ अनन्यशरण हो जगजननी माँ दुर्गाकी आराधना की जाय तो वह निष्फल नहीं होती। इस तरहकी एक प्रत्यक्ष घटना देखनेको मिली है, जो निम्न प्रकारसे है—

बात सन् १९६८ ई० की है। एक सज्जन घरसे दूर अपनी नौकरीपर थे। वहीं उन्हें सूचना मिली कि उनके किसी शत्रुने उनके परिवारवालोंको चोरीके झूठे अभियोगमें फँसा दिया है तथा वे लोग शीघ्र ही कारागारमें बंद होनेवाले हैं। यह सुनते ही उनके होश उड़ गये। कहींसि सहायताकी आशा न होनेपर उन्हें श्रीदुर्गाकवचका वाक्य—‘कवचे-नाचुतो नित्यं यत्र यत्रैव गच्छति। तत्र तत्रार्थलाभश्च विजयः सार्वकामिकः॥’ स्मरण हो आया। वे अनन्यभावसे पूर्व-स्मृतिके अनुसार कवचका पाठ करने लगे। धूम्रयानसे यात्रा करते हुए भी बिना किसी विशेष नियमके पाठ करते हुए थानेपर गये। विधिवेत्ताओं और पैरवीकारोंके अनुसार बिना हाजिर हुए और बिना एस० डी० ओ० की अनुमतिके जमानत होना असम्भव था, किंतु माँकी कृपासे कवचके प्रभावसे जमानत भी हो गयी और मुकदमेसे भी वेदाग छूट गये। तबसे वे सज्जन प्रतिदिन केवल विनियोगपूर्वक श्रीदुर्गाकवचका पाठ करते हैं और सानन्द जीवन-यापन करते हुए अपने हर कार्यमें सफलता प्राप्त करते हैं। उनका अनुभव है कि यदि अनन्य-भावसे कवचका पाठमात्र ही निरन्तर किया जाय तो यह पाठ मनोवाञ्छित फल देता है।

यह घटना सर्वथा सत्य है, किंतु उक्त सज्जनके निर्देशानुसार उनका नाम-पता नहीं दिया जा रहा है। यदि पाठक-गण उक्त घटनापर विश्वास करते हुए निष्ठाके साथ कवच-पाठ करें तो निरन्तर मङ्गल होता रहेगा, ऐसा मेरा भी पूर्ण विश्वास है।

—श्रीसुमेश्वर मिश्र

(७)

छूत-अछूतका भेद

महात्मा प्रतिदिन जेल जाते और एक बंदीको उपनिषद्

पढ़ाया करते। बंदी कालकोठरीमें था, तो भी उसके जीवनमें अपूर्व मस्ती, विलक्षण ओज झलक रहा था। लगता था मानो वह उपनिषद् नहीं पढ़ रहा था; सोम-रसका पान कर रहा था।

चढ़ाव-ही-चढ़ाव हो, उतार न हो तो जीवन क्या? संकल्प-विकल्प, शान्ति-संघर्ष, उतार और चढ़ावका नाम ही तो जीवन है; एक-सी स्थिति होती तो संसारमें गति न होकर केवल शून्यता होती। बंदीका जीवन उसी प्रकार बीत रहा था; महात्मा नियमपूर्वक उसे उपनिषद् पढ़ाने जाते रहे।

एक दिन जब महात्मा उसके पास गये, उन्होंने अपने शिष्यके मनमें शान्ति और प्रसन्नताका अभाव ही नहीं पाया; देखा कि उसके मनमें कोई भय समा गया है। देखनेसे लगता था वह रातभर सोया नहीं था। महात्माने पूछा—‘तात! ऐसी क्या बात हो गयी? चिन्तातुर क्यों दिखायी दे रहे हो? उपनिषद् पढ़कर भी जो व्यक्ति शान्ति न पाये, समझना चाहिये कि उसके लिये संसारमें और कहीं शान्ति नहीं।’ ‘आप ठीक कहते हैं, गुरुवर! बंदीने अत्यन्त विनीत भावसे उत्तर दिया। ‘किंतु न जाने क्यों आज रातभर एक भयंकर स्वप्नने मुझे पीड़ित करके रखा; नींद टूट गयी। तबसे उस स्वप्नकी भयंकरता मनसे दूर नहीं होती।’

‘क्या था वह स्वप्न?’ संन्यासीने अगला प्रश्न किया। इस प्रश्नका उत्तर युवकने यों दिया—‘रात जब सोया तो स्वप्नमें अपने आपको एक गाँवके कच्चे मकानमें पाया। एक कोठरी दिखायी दी, जिसमें मेरी माँ बाल खोले बैठी बालोंको मुला रही थी। तभी मैं हाथमें तलवार लिये अंदर चला गया और माँके बाल पकड़कर उसे कोठरीसे घसीटता हुआ बाहर बरामदेमें ले आया। माँ चिल्लाती रही, मैंने उसे छोड़ा नहीं। सहनमें आकर तलवारसे उसका वध कर दिया। आप जानते हैं मैं अपनी माँको कितना प्यार करता हूँ, और मेरी माँ भी मुझसे कितना स्नेह करती है। जो बात मेरी कल्पनामें भी नहीं आयी; वह स्वप्नमें कैसे आ गयी? यह भयंकर स्वप्न रातमें कई बार देखा; उसी कारण मन उदास है।’

महात्माने कुछ विचार किया और पूछा, ‘कल खाना किसने बनाया था? बाहरसे मँगाकर तो कुछ नहीं खाया?’ युवकने उत्तर दिया, ‘नहीं गुरुदेव! पर हाँ, कलका खाना

पहलेसे स्वादिष्ट अवश्य था; लगता था किसी नये रसोइयेने बनाया है।’ महात्माजीने और कुछ पूछे बिना बंदीगृहके अधिकारीके पास जाकर पूछा—‘क्या कल किसी नये बंदीने भोजन पकाया था?’ कारागृह अधिकारीने कहा, ‘हाँ’ और साथ ही उसका रिकार्ड मँगाकर देखा तो पता चला कि वह व्यक्ति गाँवका रहनेवाला है और अपनी माँकी हत्याके अपराधमें आजीवन सजा पाकर आया है। हत्याकी परिस्थितियाँ ठीक वही थीं, जो युवकने स्वप्नमें देखी थीं। महात्माके कहनेसे उसे खानेके कामसे छुट्टी दे दी गयी। महात्मा फिर अपने शिष्यके पास आये और सारी बात समझाते हुए बोले—‘वत्स! व्यक्तिके मानसिक संस्कार स्पर्शमात्रसे दूसरोंको कितना प्रभावित कर सकते हैं, यह उसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।’

युवक संतुष्ट हो गया, रसोइया बदल जानेसे फिर उसने वह स्वप्न भी नहीं देखा। यह कथा पौराणिक कल्पना नहीं; सत्य घटना है, जो महात्मा आनन्दस्वामीके जीवनमें तब घटी, जब वे रणवीर * को जेलमें पढ़ाने जाया करते थे। इसे उपनिषदोंके सारमें उन्होंने प्रकाशित भी किया है।

—‘अखण्ड-ज्योति’, जून १९७१ के पृष्ठ ३६ से उद्धृत

(८)

टैक्सी-ड्राइवरकी अनुकरणीय ईमानदारी एवं कर्तव्यनिष्ठा

बम्बईमें ५ जूनको एक टैक्सी-चालकको उसकी ईमानदारीके लिये स्वर्णपदक प्रदान किया गया। ऐसा बतलाया गया है कि एक वयस्क दम्पतिने रेलवे-स्टेशन जानेके लिये उसकी टैक्सी भाड़ेपर ली। उनके साथ बक्समें १७ हजार रुपयेके जवाहरात और दूसरा आवश्यक सामान था। किंतु उसे स्टेशनपर टैक्सीमें ही छोड़कर वे उतर गये। दो दिनोंके बाद चालक तुकाराम विठ्ठलने उन्हें ढूँढ़कर बक्स उनके हवाले कर दिया; क्योंकि उन्होंने बक्सकी खोज करनेके लिये अपनी यात्रा स्थगित कर दी थी।

बम्बईकी एक फिल्म कम्पनीकी ओरसे महाराष्ट्रके मुख्य मंत्री श्री वी० पी० नायकने उन्हें स्वर्णपदक प्रदान किया।

* रणवीर आजकल दैनिक मिलाप, दिल्लीके सम्पादक हैं।

‘कल्याण’के नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान-वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सजन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे बौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक-मूल्य भारतवर्षमें १०.०० रुपये और भारतवर्षसे बाहरके लिये रु० १६.०० (१८ शिलिंग) नियत है। सजिल्द विशेषाङ्कका भारतमें रु० ११.५० तथा विदेशके लिये सजिल्दका २० शिलिंग (१७.८० पैसे) है।

(३) ‘कल्याण’का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं; किंतु जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। ‘कल्याण’के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी श्रममें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे ‘कल्याण’ दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो-महीनेके लिये पता बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता-बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जानेकी अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया

जायगा। विशेषाङ्क ही जनवरीका तथा वर्षका पहला अङ्क होगा। फिर दिसम्बरतक प्रतिमास ११ अङ्क मिला करेंगे। सबका मूल्य रु० १०.०० मात्र है। किसी अनिवार्य कारणवश ‘कल्याण’ बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों, उतनेमें ही वर्षका चंदा समाप्त समझना चाहिये; क्योंकि केवल विशेषाङ्कका ही मूल्य १०.०० रुपये है।

(८) ६० पैसे एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो ६० पैसे वाद दिये जा सकते हैं।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) ‘कल्याण’ में किसी प्रकारका कमीशन या ‘कल्याण’ की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(११) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देना चाहिये।

(१२) ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये। बी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१३) प्रेस-विभाग तथा कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। ‘कल्याण’के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। प्रेससे १.०० रु० से कमकी बी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१४) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१५) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी संख्या, रुपये भेजनेका उद्देश्य, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो ‘नया’ लिखें), पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१६) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक-“कल्याण”, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि सम्पादक-“कल्याण”, पो० गीतावाटिका (गोरखपुर) के नामसे भेजने चाहिये।

(१७) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कम नहीं लिया जाता।

(१८) ‘कल्याण’के आजीवन ग्राहकका चंदा अजिल्द विशेषाङ्कका रु० १२५.०० तथा सजिल्दका रु० १५०.०० है। ग्राहकके दिवंगत होनेपर यदि ‘कल्याण’का प्रकाशन जारी रहा तो सूचना मिलनेपर उसके उत्तराधिकारीको अङ्क जाते रहेंगे।

संतोंकी अलौकिक महिमा

काम-क्रोध-लोभ-मद-विरहित, शोक-मोह-भय-भ्रमसे हीन ।
 ज्ञानमूर्ति, निष्कामनिष्ठ अति, पावन परम प्रेम-रस-पीन ॥
 नित्य शान्ति, आनन्द नित्य ही, तृप्ति नित्य अविचल अत्यन्त ।
 सर्वभूत-हित-रति स्वाभाविक, समता, ममता-रहित, प्रसन्न ॥
 वज्रादपि कठोर निजहित जो, परहित कोमल कुसुम समान ।
 अचल प्रतिष्ठित दैवी संपद, नित्य ज्ञान-विज्ञान-निधान ॥
 जिनमें भरे अखण्ड पूर्ण आनन्द, प्रेम शुचि, निर्मल ज्ञान ।
 जिनके रोम-रोममें छाये रहते स्वयं नित्य भगवान् ॥
 जिनके तन-मन-वचन बहाते अविरल भगवद्-रसकी धार ।
 ऐसे संतोंके पद-कमलोंमें प्रणाम है बारंबार ॥

—नित्यलीलालीन श्रीभाईजी

संत भगवत्स्वरूप होते हैं और उनके पवित्र जीवनसे नित्य-निरन्तर भगवद्-रसकी विश्वपावनी अखण्ड सुधा-धारा प्रवाहित होती रहती हैं, जो जगत्के जीवोंको मृत्युके भीषण पाशसे मुक्तकर अमृतत्व प्रदान करती हैं । वे संत ज्ञानके ज्योतिपुष्प होते हैं और अपने दिव्य प्रकाशसे तमोमय प्राणियोंके अज्ञानान्धकार-को दूरकर उन्हें परमात्माके परम प्रकाशमय स्वरूपमें पहुँचा देते हैं । ऐसे संत जहाँ होते हैं, वह देश धन्य है; जिस जातिमें होते हैं, वह जाति धन्य है; जिस कुल-परिवारमें होते हैं, वह कुल-परिवार धन्य है और जिस कालमें होते हैं, वह काल धन्य है । वस्तुतः ऐसे भगवत्स्वरूप संतोंका जीवन जगत्के जीवोंके कल्याणार्थ ही उत्सर्गकृत होता है । उनका अपना कोई प्रयोजन नहीं रहता—शरीरसे, जीवनसे । जितने दिन प्रारब्धवश उनका भौतिक शरीर रहता है, उनके द्वारा सहज ही जगत्के जीवोंका कल्याण होता रहता है । ऐसे संत वास्तवमें जाति, सम्प्रदाय, देश आदिकी सीमासे बाहर पहुँचे हुए या इस जागतिक प्रपञ्चके स्तरसे बहुत ऊपर उठे हुए होते हैं । इसीसे वे समदर्शी, समतास्वरूप और निरपेक्ष सर्वकल्याणकारक होते हैं । वे अपने-परायेका भेद न रखकर सबमें भगवान्के दर्शन करते हैं या सबमें आत्मोपलब्धि करते हैं और सबको सुख पहुँचाने तथा सबका हित करनेकी सहज चेष्टा उनके द्वारा होती रहती है । वे अत्यन्त विरक्त होते हुए भी सहज ही जनकल्याणमें प्रवृत्त रहते हैं—उनका जीवन ही सहज जनकल्याणस्वरूप होता है । ऐसे ही संत अपने अस्तित्वमात्रसे विश्वकल्याणके कारण हुआ करते हैं । ऐसे संतोंके श्रीपद-कमलोंमें कोटि-कोटि साष्टाङ्ग प्रणिपात ।